हिन्दी साहित्य के दार्शनिक आधार

(मध्यकाल तथा आधुनिक काल की साहित्यिक दार्शनिक पृष्ठभूमि)

लेखक—

पद्मचन्द्र अग्रवाल एम० ए० (दर्शन), एम० ए० (हिन्दी)

सेंट पीटर्स कालेज,

तथा

संयोजक,

साहित्य समाज, आगरा

प्रकाशक—

सरस्वती पुस्तक सदन

मोतीकटरा, आगरा।

मूल्य १।।।)

प्रकाशक
फूलचन्द्र गुप्त
संचालक
सरस्वती पुस्तक सदन, आगरा।

प्रथमावृत्ति	१९५४	संवत् २०११

मुद्रक
राकेशचन्द्र उपाध्याय
आगरा पॉपूलर प्रेस, आगरा।

दो शब्द

विद्यार्थी-जीवन से सुनता चला आ रहा था कि साहित्य और दर्शन का बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। बड़ी इच्छा थी कि साहित्य को दर्शन की दृष्टि से देखकर अपने विचार व्यक्त करूँ। यह पुस्तक इसी इच्छा को आकार देने का प्रयत्न है। मैं नहीं जानता कि यह कैसी बन पड़ी है। यदि यह पुस्तक पाठकों को दर्शन के नाम पर साहित्य को समझने की इच्छा प्रदान कर सकी तो मैं अपने इस प्रयत्न को सफल समझूँगा।

अन्त में मैं उन व्यक्तियों के प्रति आभार प्रकट करके (जिन्होंने मेरी सहायता की है) अपने ऋण के बोझ को हल्का नहीं करना चाहता। फिर भी शिष्टाचार के नाते मैं अपने मित्र श्री विन्देश्वरी प्रसाद भार्गव, एम० ए० (दर्शन) को सहायता के लिए धन्यवाद देता हूँ। श्रद्धेय गुरुवार प्रो० हरिहरनाथ जी टंडन के सुझावों और आदर्शों ने भी मेरा मार्ग-प्रदर्शन किया है। उनसे तो मैं सदा आशीर्वाद की ही कामना करता हूँ जिसका प्रत्यक्ष रूप आपके सम्मुख है।

आगरा

कार्तिकी पूर्णिमा

—पद्मचन्द अग्रवाल

विषय-सूची

साहित्य और दर्शन

'साहित्य' शब्द से हमारा तात्पर्य 'ज्ञान-राशि के संचित कोष' से होता है। ऐसी ज्ञानि-राशि का मानव-हिताय होना अनिवार्य है, क्योंकि 'साहित्य' शब्द के अर्थ के अनुकूल 'हित' का विद्यमान होना परमावश्यक माना गया है। ज्ञान-राशि के कोष को 'शास्त्र' भी कह सकते हैं। 'शास्त्र' शब्द का अर्थ है 'शासन' (शासु अनुशिष्टौ) अर्थात् साहित्य का भी काय हित करना तथा मानव की मनोवृत्तियों को तृप्त करके उनको उन्नति की ओर ले जाना है। इसीलिए भर्तृहरि कहते हैं—

'काव्य शास्त्र-विनोदेन कालो गच्छति धीमताम्।
व्यससेन च मूर्खाणां निद्रया कलहेन वा॥'

अर्थात् बुद्धिमान पुरुष काव्य का अध्ययन इसलिए करते हैं कि काव्य के अध्ययन करने से हित की प्राप्ति होती है। टालसटाय महान् व्यक्ति केवल इसलिए ही है कि उसने हित सम्पादन करने वाले साहित्य का निर्माण किया। इसी सत् साहित्य की सेवा द्वारा आचरण-निर्माण तथा जीवन का सर्वाङ्गीण अध्ययन किया जा सकता है। इसी प्रकार का साहित्य हमारा मार्ग-द्रष्टा तथा रहीम के दोहे में राज की भाँति हमारी मनोवृत्तियों को तृप्त करता हुआ चन्द्रिका बिखेर देता है।

"रहिमन राज सराहिए, ससि सम सुखद जु होइ।
कहा बापुरो भानु है, तप्यौ तरैयन खोइ॥"

इस प्रकार साहित्य मानव-हित, जीवन-ज्ञान तथा सौन्दर्य आदि की वृद्धि करने के लिए जिम्मेदार है जिनकी पूर्ति वह दर्शन द्वारा ही

कर पाता है। दर्शन सदा से ही साहित्य का आधार रहा है। दोनों में अन्योन्याश्रय का सम्बन्ध कहा जाता है। दर्शन-शास्त्र के अध्ययन द्वारा उपलब्ध ज्ञान ही साहित्य को उच्च भूमि पर ले जाता है। साहित्य (Literature) का अर्थ एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका में बताया गया है कि मानव के सर्वोत्तम विचारों को वर्णों द्वारा सर्वोत्तम व्याख्या ही साहित्य (Literature) है। मैथ्यू आरनाल्ड (Matthew Arnold) के कथनानुसार—

"Liter-ature is the best that has been thonght and said in the world" (संसार में जो कुछ सोचा और कहा गया है वह सर्वोत्तम साहित्य है।)

प्रत्येक भाषा के साहित्य में वहाँ के जीवन-दर्शन की व्याख्या होती है। भारतीय वाङ्मय में तो बहुत कुछ दार्शनिक विवेचनाओं के आधार पर ही साहित्य में सृजन भी हुआ है।

साधारणतः दर्शन शास्त्र में प्रमाण शास्त्र, तत्व दर्शन (Ontology), व्यवहार शास्त्र (Ethics), मनोविज्ञान तथा सौन्दर्य शास्त्र का अध्ययन किया जाता है। इन्हीं शास्त्रों के आधार पर मानव-जिज्ञासा की पूर्ति की जाती है। साहित्य में तत्व दर्शन, व्यवहार शास्त्र तथा सौंदर्य शास्त्र आदि से सम्बन्धित तथ्यों का (विशेषतः अध्यात्मवाद) वर्णन अधिक होता है। प्रकृति, जीव, ईश्वर के स्वरूप का विवेचन दार्शनिकों ने किया। साहित्य में भी इन्हीं त्रैत (Trinity) सम्बन्धी भावनाओं का प्रस्फुटन हुआ। मानव ने 'शक्ति' का कल्पना के आधार पर अस्तित्व माना। यह 'शक्ति' बहुरूपिणी थी, जो अनेकं रूपों में दृष्टिगत हुई। 'ईश्वर' इन 'शक्तियों' के केन्द्र का नाम हुआ। मनुष्य ने प्रकृति में भी इसी प्रकार की शक्ति छिपी पाई और इस प्रकार जैसे-जैसे अन्य विलक्षण वस्तुएँ उसे मिलीं उनको भी अपनी कौतूहल-पूर्ण जिज्ञासा के आधार पर समझने लगा। पर हुआ यह कि ज्ञान-राशि के बिखरेपन को संघटित रूप में समझने के स्थान पर वह बिहारी के शब्दों में—

को छूट्यो यहि जाल परि, कत कुरंग अकुलाय।
ज्यों ज्यों सुरझि भज्यो चहत, त्यों त्यों अरुझत जाय।।

ज्ञान-राशि ने उसे चिरन्तन मूर्खता (कौतूहल पूर्ण) के लोक में ला दिया। यही प्रश्न आज भी विद्यमान है। संसार के हर देश के दार्शनिकों ने इन अनेकताओं में छिपी एकता को समझने की चेष्टा की, पर सर्वमान्य तथ्य नहीं निकाल पाए।

ईसा से हजारों वर्ष पूर्व वेद, उपनिषदों, श्रीमद्भागवत आदि ने दार्शनिक विचारों की जड़ें जमा दी थीं। इन धर्म ग्रन्थों ने सर्वभूत में एक ही आत्मा का दर्शन करने की शिक्षा दी। इसी के आधार पर साधना के क्षेत्र में प्रयोगात्मक रूप से इन्द्रियों और मन का निग्रह, सत्य, अहिंसा, मैत्री और करुणा आदि का उपदेश दिया गया है। अधिकांश दर्शन 'जीवन्मुक्ति' के आदर्श को मानते हैं। दार्शनिक आचार्यों ने देश के जीवन व चरित्र को यथेष्ट मात्रा में प्रभावित किया है। तत्त्व पदार्थों के विवेचन की भाषा इतनी साहित्यिक एवं संगीतमय है कि समस्त धर्म-ग्रन्थ एवं दार्शनिक विवेचन एक अमूल्य साहित्य का सृजन करते हैं। संस्कृत साहित्य तो इस प्रकार की दार्शनिक सरस रचनाओं से भरा पड़ा है। श्री शंकराचार्य की 'विवेक चूड़ामणि', विद्यारण्य की 'पंचदशी', सुरेश्वराचार्य की 'नैषकर्म्य सिद्धि' आदि सब पद्य-ग्रन्थ हैं। पद्य में दार्शनिक रचनाएँ भारतवर्ष की एक स्पृहणीय विशेषता है।

साहित्य के इतिहास से विदित होगा कि दार्शनिक विचार-धारा के अनुकूल ही साहित्य का सृजन हुआ है, विशेषतः भक्तिकाल में। प्राचीन धर्म-ग्रन्थ, संस्कृत में थे। उनमें धर्म, आचरण तथा अध्यात्म पक्ष का विवेचन प्रचुरता के साथ किया गया है। इसका सीधा प्रभाव यह पड़ा कि आगे आने वाले साहित्य में पवित्र भावनाओं और जीवन-सम्बन्धी गहन तथा गम्भीर विचारों की प्रचुरता हुई और साधारण तथा लौकिक भावों का विस्तार नहीं हुआ। साम-

वेद की मनोहारिणी तथा मृदु गम्भीर ऋचाओं से लेकर सूर तथा मीरा आदि की सरस रचनाओं तक में सर्वत्र परोक्ष भावों की अधिकता तथा लौकिक भावों की न्यूनता देखने में आती है।

हिन्दी साहित्य का प्रारम्भ संवत् १०५० से होता है। प्रारम्भ में वीर गाथाएँ तथा वीरोल्लासिनी कविताएँ पाई जाती हैं। इस काल में दर्शन का प्रभाव हिन्दी साहित्य पर नगण्य-सा है। इसके पश्चात् हिन्दी साहित्य भक्ति-युग में प्रवेश करता है। भक्ति-युग में हिन्दू दर्शन का प्रभाव वैष्णव-धर्म व मुसलमान दर्शन का प्रभाव सूफी मत के आधार पर पड़ा। भक्तिकाल में साहित्य भावों तथा भाषा की दृष्टि से चरमोन्नति पर पहुँच गया था। भक्ति-काल की परम्परा अबाध रूप से आगे भी चली आयी है और सारे भारतवर्ष में फैली। राम भक्त और कृष्ण-भक्त कवियों का यह युग हिन्दी साहित्य का स्वर्ण-युग माना जाता है।

भक्ति-युग—एक ओर तो भारतवर्ष में मुसलमानी राज्य पनप रहा था, दूसरी ओर सारे देश में कलह, फूट तथा विलासिता की लहर फैल रही थी। इसके साथ साथ धार्मिक शिथिलता भी छा रही थी। चारों तरफ अज्ञान का साम्राज्य था। पंडितों को छोड़कर शेष जनता मुसलमानों का आधिपत्य स्वीकार कर चुकी थी। मुसलमान शासकों से हिन्दुओं को न्याय की कोई आशा नहीं थी। वे शक्ति-हीन तथा असंघटित थे। यदि उन्हें थोड़ी बहुत कुछ आशा थी तो वह केवल भक्त-भयहारी ईश्वर की अमोघ शक्ति की थी।

इसी समय इस्लाम दर्शन का एकेश्वरवाद और कुरान शरीफ में वर्णित पारस्परिक भ्रातृ-भाव तथा धर्म-परिवर्तन से मिलने वाली अन्य सुविधाएँ (जैसे जज़िया कर से मुक्ति) जनता के हृदयों में घर कर रही थीं। सूफी मत में प्रतिपादित प्रेम-मार्ग, जिसके द्वारा ईश्वर-प्राप्ति सरल थी, आकर्षक था। बौद्ध-धर्म तथा जैन धर्म भी नास्तिक विचारों द्वारा सनातन धर्म में लोगों के विश्वास को डगमगा रहे थे। जनता भटक रही थी। संस्कृति की प्रगति अन्धकारमय हो रही थी।

ऐसे समय में भाग्यवश हिन्दू धर्म में एक धार्मिक आन्दोलन चला जो वैष्णव आन्दोलन के नाम से प्रसिद्ध है। नवीन धार्मिक चेतना पाकर हिन्दू-धर्म एक बार पुन: सचेत हो उठा। यह बात ठीक है कि भिन्न भिन्न मतों का प्रतिपादन इस समय भी हुआ। दार्शनिक मत भेद अवश्य रहे, परन्तु इन अनेकताओं में भी आन्तरिक एकता रही। इसके द्वारा साहित्यिक क्षेत्र में भक्ति-साहित्य में यथेष्ट वृद्धि हुई।

शंकर अद्वैतवाद का प्रचार कर चुके थे। ब्रह्म सत्य है तथा जगत मिथ्या है। उनका ब्रह्म व्यापक ब्रह्म था। इस व्यापक ब्रह्म द्वारा आपने आध्यात्मिक उदारता को समाज में लाने का प्रयत्न किया था जिससे हिन्दू जाति एकता के सूत्र में बंध कर आत्म-शक्ति का संचय करने में सफल हुई। महात्मा तुलसीदास, कबीरदास आदि अद्वैती कवियों ने इसी आधार पर काव्यों की रचना की। शंकराचार्य द्वारा प्रतिपादित अद्वैतमत से कृत्रिम बन्धन नष्ट हो गए थे और धार्मिक व साहित्यिक क्षेत्र में अपूर्व उन्नति हुई। कुछ विद्वान शंकर के मायावाद को निराशा फैलाने वाला तथा जनता में भ्रम फैलाने वाला मानते हैं पर शंकर की माया 'अभावरूप' नहीं है, उसकी सत्ता है। माया को ब्रह्म की शक्ति भी कहा गया है।

शंकराचार्य का अद्वैतवाद इतना सब होते हुए भी उपासना का सुदृढ़ आलम्बन उपस्थित नहीं कर सका। उस समय लोकरंजनकारी, दुखों का निवारण करने वाले भगवान की आवश्यकता थी। अद्वैत-मत की बौद्धिकता से मनुष्य के हृदय पक्ष को सान्त्वना नहीं मिली। विज्ञानभिक्षु आदि जैसे विद्वान भी शंकराचार्य को "प्रच्छन्न बौद्ध" कहने में नहीं चूके। हिन्दू लोगों को ईश्वर की सगुण सत्ता की आवश्यकता थी जो उनकी रक्षा कर सकती। इन्हीं उद्देश्यों की पूर्ति के लिए रामानुजाचार्य ने विशिष्टाद्वैत मत का प्रतिपादन किया था जिसमें निर्गुण ब्रह्म के स्थान पर सगुण ईश्वर की कल्पना की गई और शुष्क ज्ञान के स्थान पर सरस भक्ति स्वीकार की गई। इस

ईश्वर में असीम सौंदर्य तथा शील थे और ऐसा ईश्वर भक्तों द्वारा उपासना का आलम्बन बन सका।

शंकराचाय का अद्वैतवाद तथा रामानुजाचार्य का विशिष्टाद्वैत-वाद सिद्धान्ततः एक ही हैं क्योंकि एक केवल शुद्ध अद्वैत है और दूसरा विशिष्ट (Qualified) अद्वैत है। गोस्वामी तुलसीदासजी ने भी इस भ्रम का निवारण कर दिया है—"ज्ञानहि भक्तिहि नहिं कछु भेदा"।

रामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैतवाद से भक्ति-मार्ग काफी प्रशस्त हो चला और बाद के विचारकों (निम्बार्क, मध्वाचार्य तथा वल्लभाचार्य) द्वारा हिन्दू जनता की धर्म में आस्था बढ़ती गई। इससे पहले की निराशा दूर तो अवश्य हुई परन्तु लोक-रक्षिणी-सत्ता की प्रतिष्ठा नहीं हो सकी। रामानुजाचार्य के विष्णु सगुण होते हुए भी लोक-व्यवहार से तटस्थ थे। निम्बार्क के गोपीकृष्ण लोक-कल्याण-कारी कम थे। इसके अतिरिक्त भाषा की कठिनाई अवश्य थी। उपरोक्त आचार्यों ने संस्कृत भाषा में ही भक्ति निरूपण किया था। इससे वह केवल द्विजातियों तक ही सीमित रहे। वे भक्ति को लोक-व्यापक नहीं कर सके। स्वामी रामानन्द ने 'राम' की प्रतिष्ठा करके उनका व्यापक प्रसार किया। इससे 'राम-भक्त' कवियों की परम्परा चल पड़ी जिसमें गोस्वामी तुलसीदास, नाभादास आदि ने रामभक्ति द्वारा साहित्य को भक्ति के प्रवाह से ओतप्रोत किया। रामानन्द द्वारा प्रतिष्ठित राम द्वारा सन्तों का नया दल आया जिसने निर्गुण ब्रह्म को आधार माना। इनमें महात्मा कबीरदास ने इस्लामिक एकेश्वरवाद तथा निर्गुण ब्रह्म को एक करके भ्रमण द्वारा हिन्दू-मुस्लिम एकता का प्रचार किया। कबीर का यह प्रचार उस समय निराला था और उसने साहित्य तथा दर्शन की उपयोगिता को सिद्ध कर दिया। उन्होंने यह प्रचार देश भाषाओं में किया। सूफीमत से प्रभावित होकर जायसी, कुतबन आदि कवियों में रहस्यवादी परम्परा चली।

वैष्णव-धर्म में चैतन्य महाप्रभु व वल्लभाचार्य आदि दार्शनिक आचार्यों का उल्लेख आवश्यक है। चैतन्य ने बंगाल में भक्ति तथा भागवत धर्म का प्रचार किया। वल्लभाचार्य जी कृष्ण-भक्त थे। आपने विद्याध्ययन के पश्चात् कृष्ण-तीर्थों का भ्रमण किया आप सिद्धान्ततः शुद्धाद्वैतवादी है। आपके आधार पर ब्रह्म और जीव एक ही है। जड़ जगत भी उससे भिन्न नहीं हैं। माया के कारण जो भेद ज्ञात होता है उसका निराकरण भक्ति द्वारा हो सकता है। आपने व्रत आदि कष्ट-साध्य कर्मों का निषेध किया और प्रेम-पूर्वक भक्ति करने की बात कही। आगे चलकर प्रेम पूर्वक भक्ति करने की प्रकृति हानिकारक सिद्ध हुई क्योंकि इससे विलासिता की ओर अधिक झुकाव हुआ।

इस प्रकार भक्ति युग में भक्ति काव्यों का यथेष्ट मात्रा में सृजन हुआ। शंकराचार्य का अद्वैत-दर्शन तथा स्वामी रामानन्द के 'राम' कबीर, तुलसीदास, नाभादास आदि कवियों के काव्य का आधार रहे। कृष्ण-भक्ति-शाखा के कवियों जैसे कविकुल शिरोमणि सूरदास, नन्ददास, मीरा आदि पर वल्लभाचार्य तथा उनके सम्प्रदाय के लोगों का काफी प्रभाव पड़ा। सूरदास जी ने कृष्ण-रूप में ईश्वर-भक्ति का इतना सुन्दर प्रवाह बहाया है कि वैसा अन्यत्र कहीं देखने को नहीं मिलता। बंगाल के वैष्णव-भक्ति-आन्दोलन को विद्यापति की रचनाओं से यथेष्ट मात्रा में सहारा मिला। उनकी रचनाएँ राधा और कृष्ण के पवित्र प्रेम से ओत-प्रोत हैं जिनसे कवि की भाव-मग्नता का परिचय मिलता है। प्रेममार्गी-शाखा में जायसी, कुतबन तथा उसमान कवियों ने परोक्ष के दर्शन कराए। वे उस परमेश्वर की उपासना करते थे जो निर्गुण और निराकार होते हुए भी प्रेम के भंडार भी थे। उन्होंने प्रेम आख्यानों द्वारा अभिव्यक्ति की जो संकेतों के रूप में हुई और इस प्रकार यह साहित्य रहस्यात्मक हुआ। सूफियों के काव्यों के आख्यान हिन्दू समाज से लिए गए हैं। इससे स्पष्ट होता है कि हिन्दू समाज का धार्मिक पक्ष कितना उन्नत था और साथ ही साथ यह भी प्रकट है कि प्रेममार्गी कवि कितने उदार हृदय

तथा बौद्धिक सामंजस्य में विश्वास करते थे। यह शाखा कुतबन के 'मृगावती' से प्रारम्भ होती है। जायसी का 'पद्मावत' काव्य हिन्दी साहित्य का एक जगमगाता रत्न है। इनके उपरान्त उसमान, शेख नबी तथा नूरमोहम्मद आदि भी प्रेम-गाथाकार हुए हैं।

सन्त कवियों की परम्परा—बौद्धों ने बुद्धिवाद के चक्कर में पड़कर बहुत सी अश्लील बातों को भी धर्म में शामिल कर लिया था। हिंसा, असत्य भाषण, मद्यपान आदि आत्म-सिद्धि के लिए आवश्यक उपादान समझे जाने लगे थे। इनका प्रचार करने वाले अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए योग का सहारा लेते थे। योगियों का सम्प्रदाय महात्मा गोरखनाथ के गुरू मत्स्येन्द्रनाथ से प्रारम्भ हुआ और बालानाथ, पृथ्वीनाथ के बाद महात्मा कबीरदास के पास आया। महात्मा कबीर दास ने इस धारा को नवीन रूप दिया। आचार्य श्याम सुन्दरदास जी के अनुसार "कबीर की निर्गुण शाखा वास्तव में योग का ही परिवर्त्तित रूप है......कबीर ने योग का खंडन नहीं किया।"

सन्त कवियों में, ज्ञानाश्रयी सन्तों में, कबीर, नानक, दादू, जगजीवन व सुन्दरदास जी हुए। इन्होंने पारमार्थिक सत्ता की एकता का निरूपण किया और बाह्य आचारों के सुधारने के लिए हिन्दू और मुसलमान दोनों को फटकारा। आप लोगों ने अपनी बानियों, व्यवहारों तथा उपासना द्वारा बाह्य आडम्बरों की व्यर्थता सिद्ध की तथा जात-पाँत के भेदों को मिटाकर मानवता की एकता को स्थापित करने की चेष्टा की। इन सन्त कवियों ने लौकिक जीवन को भी सरल बनाने के लिए जोर डाला जिससे लोगों ने अध्यात्म-पक्ष को प्रयोगात्मक रूप में अंगीकार करने की चेष्टा की। अध्यात्म-पक्ष के आधार पर इन लोगों ने निर्गुण ब्रह्म को ही स्वीकार किया परन्तु उपासना के लिए निर्गुण ब्रह्म को सगुण बनाना पड़ा। इन सन्त कवियों ने वेदों, पुराणों तथा कुरान आदि की गौणता को दिखाकर ऐसी भूमिका तैयार की जिस पर हिन्दू और मुसलमान दोनों समान रूप से खड़े हो सकते थे। अतः एक सामान्य भक्ति-मार्ग चल खड़ा।

इस प्रकार कबीर आदि सन्तों ने हिन्दू और मुसलमानों की भेद-बुद्धि को दूर करके सदाचार-युक्त जीवन व्यतीत करने की बात कही। जायसी ने लौकिक प्रेम द्वारा अलौकिक प्रेम-प्राप्ति की चेष्टा की। सूर और तुलसी ने कृष्ण-काव्यों तथा राम काव्यों की रचना करके जनता के हृदय को जीत लिया। इन सभी कवियों ने अपने को विनीत बताया। इस प्रकार हिन्दी साहित्य की अट्टालिका इन विनीत निरपेक्ष महात्माओं द्वारा रचित दृढ़ नींव पर ही खड़ी हुई थी। इस प्रकार भक्ति काल में काव्य-कलेवर बन गया और इसके बाद रीति-काल में उसके बनाव शृङ्गार आदि के सम्बन्ध में लक्षण ग्रन्थ तथा अलंकार आदि के बारे में ग्रन्थ बनाए गए। इन लक्षण ग्रन्थों के आचार्यों में केशव भक्त कवि थे। केशव की काव्य-कला में भाव-योजना, अलंकारिक भाषा तथा रस-परिपाक की अधिकता है। इनके बाद मतिराम, बिहारीलाल, देव, भिखारीदास, पद्माकर आदि कितने ही ऐसे कवि हुए हैं जिनकी रचनाएँ भक्ति-प्रधान कही जाती हैं। इनकी भक्ति का आधार पूर्वोक्त नींव ही रही जिसका निर्माण भक्ति-काल में हुआ था।

आधुनिक काल—भक्ति कविता की जो धारा रीति-काल में केशव-दास व चिन्तामणि द्वारा बहाई गई, वह बिहारी के समय तक रही और अन्त में पद्माकर पर समय तक बिल्कुल मन्द हो गई। रीति-काल का प्रभाव समाज पर अच्छा नहीं पड़ा। जीवन की स्थायी तथा उच्च भावनाएँ लुप्त हो गईं और रीति के संकीर्ण घेरे में कवित्व-शक्ति घिरी रही। आधुनिक युग के प्रारम्भ में तो उसकी और भी दयनीय दशा हो गयी। उस समय देश की भी दशा उस श्रान्त तथा नशे में बेहोश धनी पथिक की भाँति थी जो किसी प्रबल आघात के बिना जाग नहीं सकता था। उस समय देश आपसी झगड़ों और सात समुद्र पार के विदेशियों के चंगुल में फँसा हुआ घोर व्यथा का अनुभव कर रहा था। जनता ने अपनी स्थिति सँभालने के लिए

धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक आन्दोलन किए। साहित्य ने भी अपना कर्त्तव्य पूरा किया।

भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने 'भारत दुर्दशा' नाटक द्वारा देशवासियों को सम्बोधित करके कहा—

"रोवहु सब मिलि कै आवहु भारत भाई।
हा! हा! भारत दुर्दशा न देखी जाई॥"

और इस प्रकार रीति-कालीन कविता के विरुद्ध आन्दोलन का श्रीगणेश हुआ। यह दिन वास्तव में मंगलकारी था क्योंकि उसी दिन आधुनिक साहित्य का बीजारोपण हुआ था जिस पर आज हम गर्व कर सकते हैं।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र जी ने अपनी कृतियों द्वारा दर्शन के व्यवहारात्मक पक्ष को प्रबल किया। इनकी कविताओं तथा साहित्य से राज-भक्ति, देश-भक्ति तथा भाषा-प्रेम की शिक्षा मिलती है, जिससे देश के स्वतन्त्रता आन्दोलन को यथेष्ट गति मिली।

इस काल में दर्शन कोरा आध्यात्मवाद ही न रहा बल्कि व्यवहारिक दर्शन हुआ। ईश्वर, जीव, प्रकृति आदि के स्थान पर स्वाधीनता, मानवता, आनन्द तथा संघर्ष आदि की खोज की जाने लगी। राष्ट्रीय आन्दोलन की नींव पड़ चुकी थी। इस प्रकार से आधुनिक दर्शन के प्रभाव से हमारा साहित्य भी न बचा। स्वाधीनता-आन्दोलन ने कई राष्ट्रीय कवियों को आह्वान गीत लिखने को प्रेरित किया। बाबू मैथिलीशरण जी गुप्त की 'भारत भारती' ने यह गूँज उठाई—

"मानस भवन में आर्य जन जिसकी उतारें आरती।
भगवान भारतवर्ष में गूँजे हमारी भारती॥"

तथा कविवर प्रसाद द्वारा भारतीय संस्कृति का यशोगान हुआ—

"हमीं ने दिया शाँति संदेश सुखी होते देकर आनन्द।
विजय केवल लोहे की नहीं धर्म की रही धरा पर धूम ॥
भिक्षु होकर रहते सम्राट दया दिखलाते घर-घर घूम।

× × × ×

किसी का हमने छीना नहीं, प्रकृति का रहा पालना यहीं।
हमारी जन्म-भूमि थी यहीं कहीं से हम आए थे नहीं ॥

तथा देश-प्रेम की पुष्टि—

जिएँ तो सदा इसी के लिए यही अभिमान रहे यह हर्ष।
निछावर कर दें हम सर्वस्व हमारा प्यारा भारतवर्ष ॥

इस युग में राष्ट्रीय भावना का साहित्य केवल पद्य ही में नहीं लिखा गया बल्कि गद्य में भी। नाटकों आदि से उपन्यासों द्वारा जनता को राष्ट्रीय भावना से परिपूर्ण साहित्य मिला। मुन्शी प्रेमचन्द के उपन्यासों ने जीवन के हर क्षेत्र में (विशेषतः ग्रामीण क्षेत्रों की समस्याओं पर दृष्टि डाली) सुधारक का कार्य किया। प्रसाद जी ने अपने नाटकों में भारत के स्वर्ण-युग की संस्कृति के द्वारा जनता को चेताया था कि हम क्या थे और अब क्या हैं। इसी प्रकार के साहित्य से मानव-मात्र में से दलगत भावना को निकाल कर मानवतावाद को लाया गया। आगे चलकर इस प्रकार के साहित्य ने राष्ट्र के गौरव को बहुत ऊँचा किया।

हिन्दी के राष्ट्र-कवि श्री मैथिलीशरण जी गुप्त ने अपनी कविताओं द्वारा प्राचीन भारतवर्ष की सोई हुई संस्कृति को जगाया। 'साकेत', जयद्रथ-वध आदि काव्यों में तो उन्होंने प्राचीन सभ्यता तथा तत्कालीन श्रेष्ठ तत्वों को रखा है। गाँधीवाद से अनुप्राणित साहित्य के रचयिताओं में अग्रणी आप ही हैं। स्वतन्त्रता-दिवस (१५ अगस्त, १९४७) के पुण्य दिवस पर राष्ट्रीय ध्वजा के अभिनन्दन में जो कविता आपने लिखी वह स्पृहणीय है। आपके भाई श्री सियारामशरण जी गुप्त ने अहिंसा-नीति की व्याख्या बड़े ही मार्मिक ढंग से की है।

मिला हमें चिर सत्य आज यह नूतन होकर,
हिंसा का है एक अहिंसा ही प्रत्युत्तर।

तथा गाँधीजी के व्यक्तित्व में किन-किन उपादानों का योग प्राप्त हुआ यह उनके 'बापू' नामक ग्रन्थ से पता चलता है। राष्ट्रीय कवियों में 'एक भारतीय आत्मा' तथा बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' भी हैं। श्री माखनलालजी ने 'एक फूल की चाह' में जिस भावना को प्रस्तुत किया है वही देश-प्रेम को बढ़ाने में सहायक हुई। नवीन जी ने बापू के प्रति लिखी गई कविताओं में गाँधीवाद द्वारा मानव के शाश्वत कल्याण का सन्देश सुनाया है तथा संक्रान्ति-युग की नैराश्य-विषाद एवं शोकाकुल भावना को आशा-पूर्ण भावना में बदला है।

छायावादी युग की कविताओं में दार्शनिक विस्मय (Intellectual curiosity) (जिसमें सूक्ष्म रहस्यात्मक अनुभूति रही है) तथा वेदनात्मक अवसाद की प्रधानता रही है। श्री सुमित्रानन्दन पन्त 'शिशु' नामक कविता में पूछते हैं—

कौन तुम अतुल, अरूप, अनाम?
अये अभिनव, अभिराम?

प्रपात से पूछते हैं—

अचल के चंचल क्षुद्र प्रपात
मचलते हुए निकल आते हो,
उज्ज्वल! घन-वन-अंधकार के साथ
खेलते हो क्यों? क्या पाते हो?

तथा

प्रथम रश्मि का आना, रंगिणि!
तूने कैसे पहिचाना?
कहाँ, कहाँ, हे बाल-विहंगिनि!
पाया तूने यह गाना?

कविवर निराला 'अंजलि' में सूक्ष्म रहस्यात्मक अनुभूति को मार्मिकता के साथ व्यक्त करते हैं—

बंद तुम्हारा द्वार
मेरे सुहाग शृंगार।
द्वार यह खोलो—
सुने भी मेरी करुण पुकार
जरा कुछ बोलो।

नैराश्य तथा वेदना की लहर कुछ लोगों के कथनानुसार स्वतन्त्रता-संग्राम में लगती हुई देरी तथा असहयोग आन्दोलन की विफलता के कारण हुई। यह सोचना ठीक नहीं, बल्कि नैराश्य पश्चिमी सभ्यता की देन है। इंगलैण्ड के रोमांटिक युग के साहित्य की छाप छायावादी कवियों पर यथेष्ट मात्रा में पड़ी है। शैली के साथ-साथ पन्त कहते हैं।

"Out sweetest songs are those
that tell of saddest thought."

वियोगी होगा पहला कवि
आह से उपजा होगा गान
उमड़ कर आंखों से चुपचाप,
बही होगी कविता अनजान!

प्रसाद जी भी 'आँसू' में कहते हैं।

वेदना कैसा करुण उद्गार है,
वेदना ही है अखिल ब्रह्माण्ड यह,
तुहिन में, तृण में, उपल में, लहर में,
तारकों में, व्योम में, है वेदना।

छायावादी युग का यही नैराश्य आगे चल कर पलायनवाद की ओर इंगित करता है और कवि कहता है—

'ले चल मुझे भुलावा देकर, मेरे नाविक धीरे धीरे।'

और कवि आनन्द नामक वस्तु की खोज करके नैराश्य को आशावादिता में परिणत करता है।

इस प्रकार आधुनिक युग में राष्ट्रीय जागरूकता तथा पाश्चात्य दर्शन तथा साहित्य के प्रभाव के कारण हमारा जीवन आध्यात्मिक जगत से निकल कर बाहर आया और भारतीय सभ्यता के प्रचार में सक्रिय सहयोग देने लगा। वास्तव में आधुनिक युग का दर्शन हमारी सामाजिक उन्नति में यथेष्ट मात्रा में सहायक रहा है क्योंकि इस युग में उन सब तत्त्वों का पोषण हुआ है जिन पर हमारा आज का समाज खड़ा है।

वेदान्त—अद्वैतवाद (शंकराचार्य)

इतिहास—वेदान्त दर्शन का घनिष्ट सम्बन्ध उपनिषदों तथा बादरायण कृत वेदान्त सूत्रों से है। उपनिषदों की शिक्षा के विषय में काफी मतभेद रहे हैं और इन्हीं को लेकर विभिन्न टीकाकारों ने भाष्य लिखे। इनमें परस्पर आक्षेप भी लगाए गए और इन आक्षेपों का उत्तर देने के लिए ही वेदान्त सूत्रों की रचना की गई। बादरायण ने वेदान्त सूत्रों में यह स्वीकार किया है कि सारे उपनिषद एक ही दार्शनिक मत को प्रतिपादित करते हैं। उपनिषदों की विभिन्न उक्तियों में जो विरोध दीखता है वह वास्तविक नहीं है। मतों में विरोध केवल टीकाकारों का उपनिषदों को ठीक ठीक न समझना ही है। इन टीकाकारों में काशकृत्स्न, कार्ष्णाजिनि, जैमिनि आदि मुख्यतः उल्लेखनीय हैं। इनमें बादरायण के सूत्र अन्य समान प्रयत्नों से श्रेष्ठ थे और वे आज भी उपलब्ध हैं। वेदान्त सूत्रों के रचीयता बादरायण का दार्शनिक मत आज भी विवाद का विषय है।

वेदान्त दो शब्दों से मिलकर बना है; वेद + अन्त = वेदों का अन्त। उपनिषद वेद साहित्य के अंतिम अंग हैं और इसी कारण उनकी दार्शनिक विवेचनाओं को उत्तर-मीमांसा भी कहा जाता है। इस शाब्दिक अर्थ के अतिरिक्त वेदान्त का अर्थ साधारणतः "उपनिषद, वेदान्त सूत्रों तथा भगवद्गीता द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त" ही माना गया है जो 'प्रस्थानत्रयी' के नाम से प्रसिद्ध है। इन 'प्रस्थानत्रयी' पर विभिन्न आचार्यों ने जो भाष्य लिखे हैं उनमें उन्होंने इनका अर्थ अपने-अपने दार्शनिक मतों के अनकूल कर डाला है। इस प्रकार वेदान्त के अन्तर्गत द्वैतवाद, अद्वैतवाद, विशिष्टाद्वैतवाद आदि अनेकों सम्प्रदाय आ

जाते हैं परन्तु शंकराचार्य द्वारा प्रतिपादित दार्शनिक मत का इतना गहरा प्रभाव पड़ा है कि जब हम वेदान्त की चर्चा करते हैं तो उसका आशय शांकर-वेदान्त अथवा अद्वैत वेदान्त से होता है। शंकराचार्य के ब्रह्म सूत्र भाष्य की भी अनेकों व्याख्याएँ हो गई हैं और अद्वैत वेदान्त में भी अनेकों संप्रदाय चल पड़े। इसलिए वेदान्त दर्शन के अध्ययन के हेतु यह आवश्यक है कि शंकराचार्य के शिष्यों द्वारा प्रचारित मतों का भी अध्ययन किया जाय।

शंकराचार्य के युग से पूर्व बौद्धों का शून्यवाद तथा विज्ञानवाद चरम उन्नति पर था। शंकर ने अपने समय के दार्शनिक मतों का तीव्र विरोध करके अपने मत की उत्कृष्टता प्रमाणित की। कुमारिल ने बौद्ध दर्शन का खण्डन करके अपने कर्म-प्रधान दर्शन का प्रचार किया था। शंकर ने कुमारिल से भी भेंट की। उस समय कुमारिल का अन्तिम समय था। अतः उसने शंकर से अपने शिष्य मंडन मिश्र से शास्त्रार्थ करने के लिए कहा। शंकर ने उन्हें परास्त किया और मंडन अद्वैतवादी 'सुरेश्वराचार्य' बन गए। इस प्रकार शंकराचार्य ने अन्य मतों का खण्डन करके वेदान्त दर्शन को जनता के समक्ष रखा।

शंकर का ब्रह्म—शंकर का समस्त दार्शनिक मत ब्रह्म के इर्द-गिर्द ही नाच रहा है। उनका ब्रह्म उनके दर्शन का सर्व-सर्वा है। उनके दर्शन का केन्द्र विन्दु ही ब्रह्म है जिसको शंकराचार्य ने एक ही सूत्र में यों कहा है—

"अहं ब्रह्मोऽस्मि"

(अर्थात् मैं ही ब्रह्म हूँ)

यही चरम सत्य आत्म (Self) है जो भिन्न-भिन्न व्यक्तियों में अनेक रूपों में दिखाई देता है। ब्रह्म सब वस्तुओं से अलग है। वह स्वप्रकाशित तथा आकार रहित है। वह अपने प्रकाश से ज्ञेय पदार्थों को प्रकाशित करता है। यह किसी दूसरे ज्ञाता का ज्ञेय पदार्थ नहीं हो सकता। शुद्ध ब्रह्म का ज्ञान आकार रहित है और ब्रह्म ही द्रष्टा है। जिस प्रकार शंख से रजत की प्रतीति होती है पर वह उसका स्वाभा-

विक आभास नहीं होता है इसी प्रकार ज्ञाता जिन पदार्थों में स्वयं को प्रकट करता है वे पदार्थ उसका स्वाभाविक गुण नहीं हो सकते। मुक्त दशा में जब कि चरमानन्द प्रकट होता है उस समय आनन्द प्रकाशमान दृक् का आकार या पदार्थ नहीं होता है, परन्तु वह स्वयं ही प्रकाश होता है। जब कभी भी दृक् को आकार प्राप्त हो जाता है तो वह शुद्ध दृक् पर एक बाह्य मायावी बंधन मात्र होता है। गाय, घड़ा आदि पदार्थों के आकार अपने आप में सीमित हैं परन्तु उनमें शुद्ध सत्व विद्यमान रहता है जिसके कारण हम कहते हैं कि अमुक वस्तु गाय है या घड़ा है। इस शुद्ध सत्व के अतिरिक्त, (जो भिन्न भिन्न वस्तुओं में वर्तमान है) और कोई गायपन अथवा घड़ापन की जाति नहीं है परन्तु इसी शुद्ध सत्व पर भिन्न-भिन्न आकार मायावी ढग से अधिष्ठित हैं। ब्रह्म सत्, चित् तथा आनन्द स्वरूप है।

अद्वैतवाद के ब्रह्म का वर्णन तुलसीदास जी इस प्रकार करते हैं—

गिरा अरथ जल बीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न।

फिर

व्यापकु एकु ब्रह्म अबिनासी। सत चेतन घन आनन्द रासी।

फिर

निजं निर्गुणं निर्विकल्पं निरीहम्।
चिदाकाशमाकाशवासं भजेऽहम्॥

उपरोक्त उदाहरणों से ब्रह्म क्या है बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है। जिस प्रकार जल और लहर में कोई अन्तर नहीं होता वैसे ही ब्रह्म और माया में कोई अन्तर नहीं है। जैसे जल और तरंग में अन्तर है वैसे माया और ब्रह्म में अन्तर भी है। तात्पर्य यह है कि जल और लहर में भेद भी है और अभेद भी, वैसे ही ब्रह्म और माया का सम्बन्ध है। यही शंकर का मत है। ब्रह्म व्यापक तथा अविनाशी है और आनन्द स्वरूप है।

कबीर कह उठते हैं:—

अबरन एक अकल अविनासि, घट घट आप रहे।

फिर

सदा आनन्द द्वन्द-दंद व्यापै नहीं।
पूरनानन्द भरपूर देखा।
भर्म और भ्रान्ति तहँ नेंक नहिं पाइये।
कहै कबीर रस एक पेखा॥

कबीर के ब्रह्म विचार में भी शंकर का मत मान्य है। उपरोक्त पंक्तियाँ शंकर मत का ही प्रतिपादन करती हैं।

तुलसी बालकाण्ड में कहते हैं—

जड़ चेतन जग जीव जत, सकल राममय जानि।
बन्दौं सब के पद-कमल, सदा जोरि जुगपानि॥
सीय-राममय सब जग जानी। करौं प्रनाम जोरि जुगपानी॥

ऊपर की पंक्तियों में अद्वैतवाद की झलक स्पष्टतः झलकती है। सब जगत को राममय देखना, राम के अतिरिक्त किसी अन्य वस्तु का न मानना अद्वैतवाद की ही पराकाष्ठा है।

जग पेखन तुम्ह देखनिहारे। विधि-हरि सम्भु नचावनहारे।
तेउ न जानहिं मरमु तुम्हारा। अउर तुम्हहिं का जाननहारा॥

तुलसीदास स्पष्टतः कहते हैं कि विधि, हरि और सम्भु भी माया विशिष्ट हैं और ब्रह्म ही वह शक्ति है जो इन सबको नचाती है। अतः इससे भी शंकर के अद्वैतवाद की पुष्टि होती है।

शंकर की माया, अविद्या तथा जगत—आत्मा को छोड़ कर यह जगत भी सत्य नहीं है। साधारणतः हम जगत में कार्य संपादित होते देख कर जगत को सत्य मान लेते हैं परन्तु यह चरम सत्य नहीं है। जैसे ही आत्म ज्ञान हो जाता है यह बाह्य जगत भी लुप्त हो जाता है। यह बाह्य जगत उसी समय तक रहता है जब तक व्यक्ति को आत्म ज्ञान नहीं होता। दृश्य जगत केवल माया है। माया की वास्तविक सत्ता नहीं है, यह तो केवल अविद्या है जो वास्तविक ज्ञान

होने पर लुप्त हो जाती है। जब तक माया रहती है तब तक उसकी दृश्य सत्ता है परन्तु जैसे ही सत्य का ज्ञान हो जाता है इसका लोप हो जाता है। अतः शंकर की माया को 'है' या 'नहीं' दोनों में से कुछ भी नहीं कह सकते। दूसरे शब्दों में हम इस दृश्य जगत को न 'सत्' कह सकते हैं न असत्। अज्ञान की स्थिति में जगत सत् लगता है और जैसे ही ज्ञान का उदय होता है वैसे ही वह असत् हो जाता है। संक्षेप में जैसे ही वास्तविकता का ज्ञान हो जाता है यह स्पष्ट हो जाता है कि जगत न कभी था, न है और न कभी होगा। उदाहरण के लिए जब किसी को शंख की चमक में रजत का भ्रम होता है और पता होने पर वास्तविकता मालूम पड़ जाती है, तब न तो उसमें कभी चाँदी थी, न है, और न होगी।

अज्ञान सब माया रूपों का कारण है और अनादि है। यह अज्ञान ज्ञान के होने पर हटाया जा सकता है और भाव रूप (Positive) है। यद्यपि यह साधारण पदार्थों के साथ प्रकट होता है जिनका आदि है पर इसका स्वयं आदि नहीं है क्योंकि यह शुद्ध दृक् के साथ सम्बन्धित है जो स्वयं अनादि है। अज्ञान किसी और दूसरे भावात्मक पदार्थ की तरह भावात्मक नहीं है परन्तु इसको भावात्मक केवल इसलिए कहा गया है क्योंकि यह केवल अभाव मात्र नहीं है। राधाकृष्णन् के अनुसार माया, 'ब्रह्म तथा जगत के सम्बन्ध को बताने की शक्ति है'। माया की दो शक्तियाँ हैं। पहली आवरण शक्ति जिसके द्वारा वह आत्मा के वास्तविक स्वरूप को ढक लेती है और उसको अंधकारमय कर देती है। दूसरी शक्ति के बल पर वह जगत के पदार्थों की सृष्टि करती है तथा अपनी शक्ति से जीव ईश्वर तथा आत्म-तत्व को विभ्रममय कर देती है। वेदान्त की अविद्या भावरूप तथा सार्वजनिक है। साधारण अर्थ में वह वैयक्तिक तथा अभाव रूप होती है। कार्य कारण सम्बन्ध को बताने के लिए शंकर ने माया का ही सहारा लिया है। उनके अनुसार केवल ब्रह्म जगत के सारे रूपों का उपादान कारण है जैसे मिट्टी से ही भिन्न-भिन्न प्रकार

की वस्तुएं घड़े आदि बनते हैं। परन्तु जिन रूपों में मिट्टी दिखाई देती है वह केवल दृश्य रूप है, अवास्तविक है, वास्तविक रूप तो केवल मिट्टी ही है। इसी प्रकार ब्रह्म है। इसी को हम वेदान्त का 'सत्कार्य-वाद' कहते हैं। दूसरे शब्दों में केवल कारण ही सत्य एवं शाश्वत है और दृश्य-रूप असत्य हैं। अनेक अवास्तविक वस्तुओं के दीखने का एक मात्र कारण शुद्ध सत्व है। यही विवर्तवाद कहा जाता है। जहाँ कार्य कारण से भिन्न सत्व रखता है उसे विवर्त कहा जाता है। प्रो० दास गुप्ता के अनुसार शंकर ने माया के सिद्धान्त को पूर्णतः स्पष्ट नहीं कर पाया है। शंकर के अनुयायियों ने माया सिद्धान्त पर स्पष्ट रूप से अपने विचार प्रकट किए हैं और माया को समझाया है।

इसका अर्थ यही है कि माया और अज्ञान में कोई अन्तर नहीं है और शंकर ने माया तथा अविद्या में भी कोई अन्तर नहीं किया है। बाद में शायद लौकिक प्रयोग का ध्यान रखते हुए वेदान्तियों ने माया और अविद्या के अर्थ में भेद कर दिया। शुद्ध-सत्व-प्रधान माया है, और मलिन-सत्व-प्रधान अविद्या; माया ईश्वर की उपाधि है और अविद्या जीव की।

अविद्योपाधिको जीवो न मायोपाधिको खलु।
मायाकार्यगुणच्छन्ना ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः ॥

अर्थात्, जीव अविद्या की उपाधि वाला है, माया की उपाधि वाला नहीं। माया के गुणों से आच्छन्न ब्रह्मा, विष्णु और महेश हैं।

तो अन्त में हम यही कहेंगे कि साधारणतः माया, अज्ञान और अविद्या में कोई अन्तर नहीं है।

मैं अरु मोर तोर तैं माया। जेहि बस कीन्हें जीवनिकाया ॥
गो गोचर जहँ लग मन जाई। सो सब माया जानेहु भाई ॥

फिर

यन्मायावशवर्ति विश्वमखिलं ब्रह्मादिदेवासुरा-
यत्सत्त्वादमृषेव भाति सकलं रज्जौ यथाऽहेर्भ्रमः।

यत्पादप्लवमेकमेव हि भवाम्भोधेस्तितीर्षावतां,
वन्देऽहं तमशेषकारणपरं रामाख्यमीश हरिम् ॥

अर्थात् यह संपूर्ण जगत ब्रह्मा आदि देवता और असुर सब जिसकी माया के वश में हैं, यह सारा जगत जिसकी सत्ता से सत्य सा प्रतीत होता है जैसा कि रज्जु भ्रमवश सर्प सा प्रतीत होता है परन्तु सत्ता केवल रज्जु की ही है; संसार को तरने की इच्छा रखने वालों के लिए जो नौका रूप है इन सब कारणों से भी परे मैं राम नाम जगदीश्वर को प्रणाम करता हूँ।

उपरोक्त पक्तियों और श्लोक में, माया क्या है, और जगत का रूप क्या है, स्पष्ट हो जाता है। माया और जगत दोनों ही 'अनिर्वचनीय' हैं क्योंकि न तो हम उन्हें 'है' कह सकते हैं और न 'नहीं'। यह सारा जगत ही माया वशवर्ती है। माया भी ब्रह्म पर ही आश्रित है और जगत माया के कारण ही भिन्न प्रतीत होता है।

जासु सत्यता तें जड़ माया। भास सत्य इव मोह सहाया ॥
एहि विधि जग हरि आश्रित रहई। जदपि असत्य देत दुखु अहई ॥

इसी माया और जगत का स्वरूप बताने के लिए तुलसी फिर कहते हैं—

'केशव कहि न जाए का कहिए।
देखत तव रचना विचित्र अति समुझि मनहि मन रहिए ॥
सून्य भित्ति पर चित्र रंग नहिं तनु बिनु लिखा चितेरे।
धोए धुए न, मरै भीति, दुख पाइय यह तनु हेरे ॥

जगत-रूप चित्र सून्य रूपी भित्ति (दीवार) पर बिना रंग का प्रयोग किए हुए, अशरीरी चित्रकार द्वारा चित्रित किया गया है। अब यह चित्र कैसा बना, इसका रूप रंग क्या है ? कवि को शंकराचार्य के स्वर में स्वर मिला कर कहना पड़ता है 'केशव कहि न जाए का कहिए।' फिर यह अवर्णनीय चित्र इतने पक्के रंग से रंगा है कि 'धोए धुए न।'

उस पर भी भ्रान्ति इतनी प्रबल है कि उससे मुक्ति पाना किसी प्रकार

भी संभव नहीं है। फिर आश्चय की बात यह है कि यह अमूर्त द्वारा चित्रित अमूर्त चित्र स्वयं मृत्यु के भय से भयभीत रहा करता है और इस भय की कल्पना मात्र से यह दुख का अनुभव करता रहता है। इस प्रकार यह जगत दुखमय है और मिथ्या है। माया और अविद्या का अन्तर निम्न पंक्तियों से स्पष्ट होता है।

एक दुष्ट अतिसय दुखरूपा। जा बस जीव परा भव-कूपा।
एक रचै जग गुन-बस जाके। प्रभु प्रेरित नहिं निज बल ताके॥

माया आवरण शक्ति है और प्रभु की प्रेरणा से संसार की रचना करती है। दूसरी दुख देने वाली और जीव को संसार सागर में गिराने वाली है जिसे अविद्या कहते हैं।

ईश्वर—वेदान्त दर्शन में ईश्वर और सगुण ब्रह्म समानार्थी शब्द हैं। व्यवहार जगत की भाँति ही ईश्वर की सत्ता है। ईश्वर जगत का 'अभिन्ननिमित्तोपादान' कारण है। माया ईश्वर की सहायता से जगत को उत्पन्न करती है। माया के संसर्ग से ईश्वर अज्ञानी नहीं होता बल्कि व्यवहारिक जगत में वह सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिमान है क्योंकि वह माया का स्वामी है दास नहीं। ईश्वर के ऊपर माया की आवरण शक्ति काम नहीं कर पाती है। सर्वज्ञ होने के कारण ईश्वर श्रद्धा तथा आदर्श की भावनामय होता है। उसमें ज्ञान, सौंदर्य तथा पवित्रता रहती है। उसमें सदा सबके कल्याण की भावना रहती है। ईश्वर के प्रति भक्ति के द्वारा अविद्या का नाश, स्वज्ञान तथा ब्रह्मलोक की प्राप्ति होती है। परन्तु यह याद रखना चाहिए कि वेदान्त का ईश्वर ब्रह्म की अपेक्षा कम तात्विक है। ईश्वर का सम्बन्ध व्यवहारिक जगत से है और ज्ञानियों के लिए ईश्वर अपेक्षित नहीं है। ज्ञानी की दृष्टि में तो जगत के समान ईश्वर की भी पारमार्थिक सत्ता नहीं है; ईश्वर भी ब्रह्म का विवर्त है।

'नाम रूप दुइ ईस उपाधी। अकथ अनादि सुसामुझि साधी।'

यहाँ नाम और रूप ईश्वर की उपाधि हैं और यह दोनों मायिक हैं। इन दोनों की उत्पत्ति और विनाश होता है। यह ब्रह्म का स्वरूप

नहीं है परन्तु सच्चिदानन्दरूप-ब्रह्म का ग्रहण (ज्ञान) इसके साथ ही होता है। जब ब्रह्म ये दोनों उपाधियाँ धारण कर लेता है, तब वह सगुण हो जाता है।

'एक अनीह अरूप अनामा। अज सच्चिदानन्द परधामा॥
व्यापक विश्व रूप भगवाना। तेहि धरि देह चरित कृत नाना॥
सो केवल भगतन हित लागी। परम कृपालु प्रनत-अनुरागी॥'

ब्रह्म निर्गुण और निरीह है, उसका ज्ञान साधारण मनुष्यों को नहीं हो सकता है। वह न ज्ञेय है, न ध्येय है, न उपास्य। लेकिन जब वह माया से विशिष्ट होकर सगुण होता है, अर्थात् राम और कृष्ण आदि के अवतार धारण करता है तो उसकी उपासना या भजन सभी के लिए सुगम हो जाते हैं। सती किस प्रकार मोह में पड़ कर कह उठती है—

ब्रह्म जो व्यापक बिरज अज, अकल अनीह अभेद।
सो कि देह धरि होइ नर, जाहि न जानत वेद॥
विष्णु जो सुरहित नरतनु-धारी। सोई सर्वग्य जथा त्रिपुरारी॥
खोजत सो कि अग्य इव नारी। ज्ञान धाम श्रीपति असुरारी॥

इसीलिए ब्रह्म, राम का रूप धारण करता है कि वह सबकी उपासना के लिए सुलभ हो जाए। गोस्वामी जी विष्णु, शंकर आदि को ब्रह्म के सोपाधिक रूप एवं परस्पर समान मानते थे। शुद्ध ब्रह्म को इनसे परे मानते थे। परन्तु राम को वह विष्णु का अवतार नहीं मानते, उस निराकार ब्रह्म का ही अवतार मानते हैं। वे कहते हैं—

हरि व्यापक सर्वत्र समाना। प्रेम तें प्रकट होहिं मैं जाना॥
देश-काल दिसि बिदिसिहु माहीं। कहहु सो कहाँ जहाँ प्रभु नाहीं॥
अग-जग मय सब रहित-बिरागी। प्रेम तें प्रभु प्रकटहिं जिमि आगी॥

ईश्वर सर्वत्र समान रूप से व्यापक है। कोई देश, काल तथा दिशा ऐसी नहीं है जहाँ ईश्वर नहीं है। वह जगत-रूप है और जगत से रहित और पृथक भी है। ईश्वर की उपादान रूपता भी यहाँ स्पष्ट है। ईश्वर प्रेम से अग्नि की भाँति प्रकट हो जाता है। जैसे अग्नि सब

पदार्थों में होती है परन्तु दो पत्थर या काठ के टुकड़ों के संघर्ष से उत्पन्न होती है वैसे ही परमात्मा अग्नि की भाँति सब जगह व्यापक है और वह भक्तों के प्रेम से कार्य विशेष के लिए स्थान विशेष में प्रकट होता है और वही उनके हेतु नाना चरित करता है।

व्यापक अकल अनीह अज निर्गुण नाम न रूप।
भगत-हेतु नाना विधि करत चरित्र अनूप॥

जीव—अंतःकरण के साथ शुद्धचित्त का योग ही जीव है। अंतः-करण अज्ञान तथ्यों के अनादि क्रम का नाम है जिसमें अतीत तथ्यों के सम्बन्ध तथा विचारों का संयोग रहता है। जीव में अविद्या की प्रधानता रहती है। अविद्या में रजोगुण तथा तमोगुण की प्रधानता तथा सतोगुण की न्यूनता। ईश्वर में वैयक्तिक स्वार्थ नहीं है, सारा ब्रह्माण्ड उसका शरीर और समस्त ब्रह्माण्ड का स्वार्थ ही उसका स्वार्थ है। परन्तु जीव का अपना अलग स्वार्थ है जिसके कारण वह कर्त्ता, भोक्ता, बद्ध तथा साधक बनता है।

मायावस्य जीव अभिमानी। ईस बस्य माया गुनखानी॥
परबस जीव स्वबस भगवन्ता। जीव अनेक एक श्रीकन्ता॥
फिर
ईश्वर अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुखरासी॥
सो माया बस भयउ गोसाईं। बँधेउ कीर मरकट की नाईं॥

इन पंक्तियों से स्पष्ट है कि जीव चैतन्य स्वरूप है। ब्रह्म का अंश है, अनाशवान है, परन्तु माया अथवा अविद्या के वश में पड़ कर उसे बंदर की भाँति नाचना पड़ता है। वह स्वबस नहीं है। गोस्वामी जी फिर कहते हैं।

सो तैं ताहि तोहि नहिं भेदा। बारि बीचि इन गावहिं बेदा॥

इससे प्रकट है कि ब्रह्म और जीव में तात्त्विक भेद नहीं है। उनका सम्बन्ध जल और लहर के समान है। दूसरे शब्दों में तुलसी 'तत्त्व-मसि' के सिद्धान्त का पोषण कर रहे हैं।

मोक्ष—वेदान्त के आलोचकों का कथन है कि वेदान्त में व्यवहा-

रिक तथा नैतिक जीवन के लिए स्थान नहीं हैं। शंकर का ज्ञान मार्ग मनुष्यों की नैतिक उन्नति को किसी प्रकार का प्रोत्साहन नहीं देता। कर्तव्या-कर्तव्य का विचार नीचे दर्जे के मनुष्यों के लिए है, ज्ञानियों के लिए नहीं। कारण यह है कि जिसकी दृष्टि जगत को मिथ्या देखती है, जो संसार के सारे व्यवहारों को अतात्त्विक मानता है वह विधि विशेष का पालन करने को वाध्य नहीं हो सकता। अतः वेदान्त दर्शन सामाजिक जीवन का घातक है। परन्तु यह दृष्टिकोण ठीक नहीं है। हाँ, वेदान्त प्रवृत्ति-मार्ग से निवृत्ति-मार्ग को श्रेष्ठ समझता है, पर नैतिक जीवन के परित्याग की शिक्षा नहीं देता। उसका कहना है कि बिना नैतिक गुणों यम, नियम आदि के धारण किए बिना ज्ञान-प्राप्ति सम्भव नहीं है। ज्ञान-प्राप्ति तो दूर की बात है चरित्र-हीन को ब्रह्म की जिज्ञासा करने का भी अधिकार नहीं है। ब्रह्म-जिज्ञासा का अधिकारी वही है जिसे (१) नित्य तथा अनित्य के भेद का ज्ञान हो चुका हो (२) इह-लोक तथा परलोक के भोगों से विराग हो चुका हो। (३) जिसमें शम, दम (मन तथा इंद्रियों का निग्रह आदि) संपत्तियाँ वर्तमान हों और (४) मोक्ष की उत्कट अभिलाषा हो। अतः हम कह सकते हैं कि ज्ञान कोरी बुद्धि का विषय नहीं है। इसकी प्राप्ति के लिए बड़ी साधना की आवश्यकता है। संसार को मिथ्या एवं अतात्त्विक कहने का अर्थ झूठ, कपट आडम्बर आदि को आश्रय देना नहीं है। यह ठीक है कि ज्ञानी के लिए कर्तव्यों या नियमों का बंधन नहीं है। परन्तु इसका अर्थ ऐसा ही है जैसे प्रारम्भ में एक विद्यार्थी किसी कला को सीखने के हेतु नियमों आदि का पूर्ण अध्ययन करता है, परन्तु बाद में उसे नियम पालन की परवाह नहीं रहती इसी अर्थ में ज्ञानी के लिए नियमों का बन्धन नहीं है।

वेदान्त के अनुसार जब मनुष्य को यह ज्ञान प्राप्त हो जाता है कि केवल ब्रह्म ही सत्य एवं वास्तविक है तब उसे मोक्षावस्था प्राप्त हो जाती है। मुक्तावस्था वही है जब केवल ब्रह्म का ही ज्ञान होता है, जिसमें सत्, चित्, आनन्द तीनों अपने पूरे तेज से प्रज्वलित होते हैं।

और शेष सब माया रूप अदृश्य हो जाते हैं। गीता में जिसे स्थितप्रज्ञ कहा गया है वही वेदान्त का कर्तव्य बन्धनों से मुक्त ज्ञानी है। वेदान्त की धारणा है कि प्रारब्ध कर्मों के भोग के लिए साधक ज्ञान-प्राप्ति के पश्चात् भी जीवित रहता है और इसी दशा में उसे 'जीवन्मुक्त' कहते हैं; क्योंकि इस अवस्था में वह नवीन कर्मों को संचित नहीं करता है। परन्तु जैसे ही वह प्रारब्ध कर्मों को भोग लेता है वैसे ही उसे अपने शरीर से छुटकारा मिल जाता है, और उसका पुनर्जन्म नहीं होता। सारांश यह है कि अनादि जीवनों के कर्म पूर्ण ज्ञान प्राप्त होने पर पूर्णतया नष्ट हो जाते हैं।

तुलसीदास जी के अनुसार वैसे तो ज्ञान और भक्ति में कोई अन्तर नहीं है क्योंकि दोनों ही संसार के दुखों के नाश करने वाले हैं।

भगतिहिं ग्यानहिं नहिं कछु भेदा। उभय हरहिं भव संभव खेदा॥

फिर आलंकारिक भाषा में ज्ञान और भक्ति का बड़ी चतुराई से अंतर बताया है और भक्ति को माया के बन्धन में स्त्री होने के कारण न फँसने वाली बताया है। माया भी स्त्री है और इसीलिए तुलसीदास जी कहते हैं।

'नारि न मोहे नारि के रूपा'

फिर तुलसीदास मोक्ष का स्वरूप तथा साधन बताते हैं।

'जड़ चेतनहिं ग्रन्थि परि गई। जदपि मृषा छूटत कठिनई॥
तब तें जीव भयेउ संसारी। छूटि न ग्रन्थि न होइ सुखारी॥
श्रुति पुरान बहु कहेउ उपाई। छूट न अधिक अधिक अरुझाई॥
जीव हृदय तम मोह बिसेखी। ग्रन्थि न छुटि किमि परै न देखी॥

माया के प्रभाव से जड़ और चेतन इस भाँति मिल गए कि उनमें एक दूसरे से बंध कर गाँठ सी पड़ गई। यह गाँठ सर्वथा झूठी है, क्योंकि न तो गाँठ लगाने वाले की ही कोई स्वतंत्र सत्ता है और न गाँठ ही धागे से कोई अलग वस्तु है। यह झूठ तो अवश्य है पर इसका छूटना कठिन है। बस, जीव संसार के चक्कर में फँस गया। न जब तक गाँठ खुलेगी न तब तक जीव सुखी होगा। इस गाँठ के खोलने के

अन्य बहुत से उपाय वेद पुराण में मिलते हैं पर तुलसी शंकर मत के अनुसार ही उसका विवेचन करते हैं।

जब जीव कर्तव्य करता है, अकर्त्तव्यों को छोड़ देता है और जप, तप, व्रत आदि करता है तथा धीरे धीरे समता की ओर जाता है तब उसे ज्ञान होता है।

'जप तप व्रत जम नियम अपारा।...... .. .. ।
तोष मरुत तब छमा जुड़ावै। धृतिसम जावन देइ जमावै॥'

फिर

तब मथि काढ़ि लेइ नवनीता। बिमल बिराग सु परम पुनीता॥
जोग अगिनि करि प्रगट तब कर्म सुभासुभ लाइ।
बुद्धि सिरावई ग्यान घृत ममता मल जरि जाइ॥
तब बिग्यान निरुपिनी बुद्धि बिसद घृत पाइ।
चित्त दिया भरि धरै दृढ़ समता दियटि बनाइ॥
तीनि अवस्था तीनि गुन तेहि कपास तें काढ़ि।
तूल तुरीय सँवारि पुनि बाती करै सुगाढ़ि॥

उपरोक्त सब जीव को बंधन से छुड़ाने के साधन हैं। इन साधनों के द्वारा ही जब वैराग्य योग से परिष्कृत कर ममता मल को जला देता है और तुरीयावस्था को प्राप्त होकर बुद्धि उस विमल ज्योति के लिए प्रयत्न करती है तब विशुद्ध ज्ञान का उदय होता है। वही प्रकाश है और इसी प्रकाश से मोहरूपी अंधकार का नाश हो कर गाँठ खुल जाती है। ज्ञान का उदय होते ही,

'सोहमस्मि इति बृत्ति अखंडा। दीपसिखा सोइ परम प्रचंडा॥
आतम-अनुभव सुख सुप्रकासा। तब भव मूल भेद-भ्रम नासा॥

जीव में 'सोऽहमस्मि' की वृत्ति जग जाती है और वह ब्रह्म से एकता स्थापित कर लेता है। उसे कैवल्य पद प्राप्त हो जाता है।

"सो कैवल्य परम-पद लहई"

यह तो हुआ शंकर के सिद्धान्तों के अनुसार क्रमपूर्ण

विश्लेषण। परन्तु अद्वैतवाद ने भारतीय जीवन पर ऐसा प्रभाव डाला है कि कोई कवि व लेखक शायद ही उसके प्रभाव से अछूता बचा हो। चाहे वह कवि व लेखक अद्वैतवाद का पूरी तरह हामी न रहा हो, पर अद्वैतवाद सम्बन्धी भावना उसके लेखों या कविताओं में सवत्र मिल जाती हैं। वैसे तो प्रसाद जी शैववाद के समर्थक हैं पर अद्वैतवाद की भी झलक मिलती है।

देखिए

सब की सेवा न पराई
वह अपनी सुख-संसृति है,
अपना ही अणु-अणु, कण-कण
द्वयता ही तो विस्मृति है।
मैं की मेरी चेतनता
सब को ही स्पर्श किए सी;
सब भिन्न परिस्थितियों की
है मादक घूँट पिए सी।
× × ×
सब भेद-भाव भुलवा कर
दुख-सुख को दृश्य बनाता;
मानव कह रे! 'यह मैं हूं'
यह विश्व नीड़ बन जाता।

सब की सेवा करना पराई सेवा करना नहीं है क्योंकि एक ब्रह्म सत्व है, जीव भी अहंकार और अविद्या के दूर हो जाने पर ब्रह्म ही है अतः सब ब्रह्म ही ब्रह्म है, तो फिर पराया कैसा। जैसे ही जीव को यह ज्ञान हो जाता है कि 'यह मैं हूँ' वैसे ही सारे बन्धन छूट जाते हैं और सारा विश्व विश्व-बन्धुत्व की भावना से परिपूर्ण हो जाता है। इसी अनुभूति से वह विश्व में अपनापन स्थापित कर सकेगा। उसी समय मानव-मात्र का सुख-दुख उसकी चिन्ता का विषय बन जावेगा। 'प्रेम पथिक' में उन्होंने विश्वप्रेम की ही आवाज उठाई थी क्योंकि

'आत्म समर्पण करो उसी विश्वात्मा को पुलकित होकर
प्रकृति मिला दो विश्व प्रेम में, विश्व स्वय ही ईश्वर है।
इसी प्रकार महादेवी जी में भी अद्वैत का स्वर
'बीन भी हूँ मैं तुम्हारी रागिनी भी हूँ।
फिर
'मधुर राग तू मैं स्वर संगम, चित्र तू मैं रेखा क्रम'
इसी प्रकार अन्य कवियों में भी अद्वैतवाद की झलक मिलती है।

विशिष्टाद्वैतवाद (रामानुजाचार्य)

शंकराचार्य के अद्वैतवाद में वर्णित निर्गुण ब्रह्म ने तत्कालीन विचारकों के सामने कई महत्वपूर्ण प्रश्न उपस्थित कर दिए। (१) ब्रह्म, निर्गुण है अथवा सगुण। 'ब्रह्म' को 'निर्गुण' कहने का अभिप्राय 'ब्रह्म को दोष या गुणहीन' कहना है। दूसरे शब्दों में "ब्रह्म में प्रकृति के गुणों का अभाव है" यह कह सकते हैं। इस प्रकार के 'निर्गुण ब्रह्म' को तार्किकों ने कहा कि गुण-रहितता भी एक प्रकार का गुण है और 'अरूपवदेव' की कल्पना करना ब्रह्म की सगुणता को स्वीकार करना है। अद्वैत वेदान्त के 'विवर्तवाद' द्वारा ईश्वर, जीव तथा जगत की वास्तविक सत्ता को छीनकर शंकराचार्य ने जिस दर्शन का प्रतिपादन किया वह केवल बौद्धिकता पर आधारित था और उसमें जन-साधारण के हृदय-पक्ष द्वारा उठाए गए प्रश्नों का उत्तर नहीं था। ऐसा बल-रहित दर्शन, जिसमें 'माया' केवल 'कुछ नहीं या मिथ्या' का समानार्थी होकर, लोगों की बौद्धिक जिज्ञासा को भी पूर्ण रूप से सन्तुष्ट नहीं कर सका। लोगों ने शंकराचार्य के दर्शन में बौद्ध-दर्शन की अस्पष्ट सी झलक देखी और उन्हें 'प्रच्छन्न बौद्ध' भी कह डाला। शंकराचार्य के दर्शन ने हमारे प्रबलतमं नैतिक प्रयत्नों तथा गूढ़तम भक्ति भावनाओं को मदारी के खेल की भाँति झूठा करार दे दिया। जीवन एक बाजीगर के खेल की भाँति 'ब्रह्म' के मनोविनोद की सामग्री-मात्र रहा। ब्रह्म केवल सत्य है और इसको छोड़कर शेष मानसिक चेतनाएँ, भावनाएँ, नैतिक-जीवन तथा भक्ति आदि मिथ्या हैं। इन सबको खोकर ब्रह्म मिला भी तो निर्गुण, निर्मम एवं हृदय-हीन। ऐसा ब्रह्म मानवता के कल्याण करने तथा भक्त का आराध्य-देव होने

के अयोग्य रहा। शंकर का पूर्ण ब्रह्म हमारी भक्ति-भावना का विषय नहीं हो सकता जो शुष्क (Rigid) स्थिर तथा प्रेरणा-रहित है। उनका पूर्ण ब्रह्म, ताज की भाँति ही है जो जड़ होने के कारण अपने प्रशंसकों द्वारा की गई प्रशंसा से अनभिज्ञ रहता है। कर को भक्तों के दुःखो जीवन में सामीप्य अनुभव कराने वाली भावना से कोई सरोकार नहीं है, क्योंकि उनकी तो घोषणा है कि अपने को बचाना अज्ञेय सागर में डुबो देना है। इसके विपरीत रामानुज संसार तथा ईश्वर के सम्बन्ध की ओर ही अपना ध्यान केन्द्रित करते हैं तथा कहते हैं कि वास्तव में ईश्वर ही वास्तविक तथा स्वतन्त्र है और संसारी जीव भी वास्तविक हैं यद्यपि उनकी वास्तविकता ईश्वर पर पूर्णतः निर्भर करती है। यद्यपि प्रकृति और जीव स्वयं अपनी एक वास्तविक सत्ता रखते हैं तो भी उनमें से कोई भी तत्वतः ब्रह्म के समान नहीं है। ब्रह्म सब अपूर्णताओं से सदैव मुक्त है तथा प्रकृति अचेतन है और जीव अज्ञानी और दुःखी है। फिर भी वे (तीनों) एक इकाई बनाते हैं क्योंकि प्रकृति तथा जीव केवल ब्रह्म के शरीर के रूप में ही सत्ता रखते हैं। दूसरे शब्दों में उनकी सत्ता है और जो कुछ वे हैं वे इसलिए हैं कि ब्रह्म ही उनका आधार और नियामक है। ब्रह्म के बिना उनकी सत्ता नहीं है। जीव तथा जड़ प्रकृति तत्वतः उससे भिन्न हैं यद्यपि उसके बिना उनकी सत्ता नहीं है और न उसकी सेवा के अतिरिक्त कोई उद्देश्य ही। अतः रामानुज अद्वैत में विश्वास तो करते हैं परन्तु विशेषण के साथ। यह अनेकता को मानते हैं क्योंकि परम तत्व प्रकृति और जीव के रूप में अनेक रूप रखता है। इसीलिए इनका दर्शन 'विशिष्टाद्वैत' दर्शन कहलाता है।

ईश्वर—रामानुजाचार्य ने ईश्वर का स्वरूप सत्, चित् तथा आनन्द युक्त माना है। वे ही सूक्ष्म चित् हैं तथा जगत का कारण हैं। रामानुज का ईश्वर संकल्प विशिष्ट है जो विश्व का निमित्त कारण है। वेदान्त के वाक्यों से ब्रह्म का जगत्कारण होना सिद्ध है।

रामानुज का ईश्वर शंकर के ब्रह्म की भाँति निर्गुण तथा निर्विशेष

नहीं है वरन् वह अनेक गुणों से युक्त है—वह ज्ञान, शक्ति और करुणा का भंडार है। ब्रह्म-ज्ञान इन्द्रियजन्य नहीं है वरन् अनुभूतिजन्य (Immidiate) है। वह सर्वज्ञ है और उसे सत् की अनुभूति है। ब्रह्म के चरम व्यक्तित्व में योजना-शक्ति तथा कार्य-सिद्धि निहित रहती है। ईश्वर पूर्ण व्यक्तित्व है और दोष-रहित है, क्योंकि उसमें समस्त अनुभव विद्यमान रहते हैं और वह किसी भी वाह्य वस्तु पर आश्रित नहीं रहता। वह जीवों का अंतर्यामी तथा कर्म का स्वामी है। सारा दुःख अतीत पापों का परिणाम है। उनका जन्म संसारी के जीवन से होता है, पर ईश्वर इसके लिए उत्तरदायी नहीं है। जीव और प्रकृति ईश्वर से उसी प्रकार सम्बन्धित है जिस प्रकार शरीर का सम्बन्ध आत्मा से अथवा पूर्ण का सम्बन्ध अंश से। शरीर और आत्मा का सम्बन्ध ईश्वर पर संसार की निर्भरता सिद्ध करता है जैसे शरीर आत्मा के चले जाने के बाद नष्ट हो जाता है अर्थात् जीव की इच्छा शक्ति पर शरीर की क्रियाएँ होती हैं उसी प्रकार से संसार का ईश्वर से सम्बन्ध है। उसकी सत्ता उस पर निर्भर करती है और उसकी इच्छा-शक्ति उसी के आधीन है। ईश्वर के लिए जीव उसका अंतः शरीर है और संसार उसका वाह्य शरीर है।

रामानुजाचार्य के अनुसार ईश्वर सीढ़ी का उच्चतम डंडा-मात्र नहीं है। ब्रह्म कारण रहित है और बाकी सब सकारण हैं। यद्यपि वह अपूर्ण संसार का नियामक है परन्तु वह अपूर्णताओं व दोषों से दूर है। रामानुज ने विष्णु को परम तत्व माना है। उन्होंने शिव को ही विष्णु माना है। ईश्वर केवल एक ही है और ब्रह्म के अतिरिक्त कोई अन्य ईश्वर नहीं है। जब हम कहते हैं कि हम ब्रह्म को समझ नहीं सकते तो रामानुज के अनुसार ब्रह्म का गौरव इतना विस्तृत है कि हमारा सीमित (finite) मस्तिष्क उसको पूर्ण रूप से समझ नहीं सकता। रामानुज कहते हैं जब समाधिस्थ भक्त को ब्रह्म का अनुभव होता है जिसमें पूर्णानन्द की प्राप्ति होती है तब उसके अतिरिक्त उसे किसी अन्य वस्तु का ज्ञान नहीं होता। रामानुज 'तत्त्वमसि' का अर्थ

शंकर द्वारा किए गए अर्थ से बिलकुल भिन्न करते हैं। वे शंकर का ब्रह्म और जीव की एकता तथा अभिन्नता वाला अर्थ स्वीकार नहीं करते। उनका कहना है कि इससे यह ज्ञात होता है कि ब्रह्म और जीव का सम्बन्ध विशेष्य तथा विशेषण का है। यदि दोनों में अंतर नहीं होता तो हम नहीं कह सकते थे कि एक दूसरा है। इसलिए रामानुज इस स्थल पर शंकर से मतभेद रखते हैं।

उपासकों के अनुरोध से भगवान (ईश्वर) पाँच मूर्तियों में रहते हैं। (१) अर्चा (२) विभव (३) व्यूह (४) सूक्ष्म और (५) अंतर्यामी। यह क्रमशः ईश्वर के ऊँचे रूप हैं। उपासकों की बुद्धि और शुद्धता के अनुसार ही ईश्वर की विशिष्ट मूर्तियाँ पूजनीय हैं। देव मूर्तियाँ ही भगवान की अवतार हैं। मत्स्यावतार आदि विभव। वासुदेव, प्रद्युम्न और अनुरुद्ध व्यूह हैं, सूक्ष्म का मतलब 'पर-ब्रह्म' से है और अंतर्यामी प्रत्येक शरीर में वर्तमान है। 'सूक्ष्म' या 'पर-ब्रह्म' से अर्थ बैकुण्ठवासी ब्रह्म से समझा जाता है। शेष नाग उनकी शय्या है और लक्ष्मी उनकी पत्नी है। लक्ष्मी जगत की माता है। वे ईश्वर की सृजन शक्ति का साक्षात-रूप है। वे दंड देना नहीं जानती और पापियों के प्रति करुणामयी हैं। अतः ईश्वर के उक्त रूप को देख कर हम को यह ज्ञात हो जाता है कि यह रामानुज का ईश्वर है और वह जटिलताओं से परे है। दुःख और कुचली हुई मानवता को रामानुज का ईश्वर ही धैर्य बंधा सकता है। वह फसे हुओं को उबार सकता है और रोतों हुओं को हँसा सकता है।

तुलसी दास जी अपने राम को पाँचों रूपों में चित्रित किया है। अवतार ब्रह्म का वह रूप है जिस रूप में भक्त भगवान के दर्शन किया चाहता है। ब्रह्म उसे उसी रूप में दर्शन देता है। राम-जन्म के समय कौशल्या इसी रूप की प्रार्थना करती है—

माता पुनि बोली सो मति डोली तजहु तात यहि रूपा।
कीजिअ सिसुलीला अतिप्रिय सीला यह सुख परम अनूपा॥

सुनि बचन सुजाना रोदन ठाना होइ बालक सुर भूपा ।
यह चरित जे गावहिं हरिपद पावहिं ते न परहिं भव कूपा ॥

विभव अवतार में नर लीला के निमित्त अवतार होता है जिसमें मुख्य बात यह है कि

"यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत" ।

अर्थात् जब जब धर्म की हानि होती है और अधर्म की वृद्धि होती है तब तब विष्णु अवतार लेते हैं। उस रूप में वे सत् के रक्षक और असद् के विनाशक के रूप में आते हैं। तुलसीदास ने कहा है—

अंसन्ह सहित मनुज अवतारा । लेइहौं दिनकर बंस उदारा ॥
हरिहौं सकल भूमि गरुआई । निरभय होहु देव-समुदाई ॥

आगे—

निज इच्छा प्रभु अवतरै, सुर महि गो द्विज लागि ।
सगुन उपासक संग तँह, रहै मोच्छ सुख त्यागि ।

व्यूह रूप विश्व की सृष्टि और जगत के लय के लिए है। इसमें ६ गुणों में से केवल दो ही गुण प्रकट होते हैं—

जाके बल बिरंचि हरि ईसा । पालत सृजत हरत दससीसा ॥
जा बल सीस धरत सहसानन । अंडकोस समेत गिरि पावन ॥

सूक्ष्म अथवा पर-रूप वासुदेव-स्वरूप है यह आनन्दमय और अनन्त है। मुक्त और नित्य जीव इसी में लीन रहते हैं। यह षट गुणों से युक्त है। इसीलिए तुलसी ने राम को यही रूप दिया है और उनके हर कार्य पर देवता पुष्प-वर्षा करते हैं।

व्यापक ब्रह्म निरंजन, निर्गुन विगत बिनोद ।
सो अज प्रेम-भगति-बस कौसल्या के गोद ॥

फिर—

गगन विमल संकुल सुर जूथा । गावहिं गुन गंधर्व बरूथा ।
बरसहिं सुमन सुअंजलि साजी । गहगहि गगन दुंदुभी बाजी ।

अन्तर्यामी रूप में ब्रह्म सारे जगत की गति जानता है। जीवों के अन्तःकरण में प्रवेश करके उनका नियमन भी करता है।

तब रघुपति जानत सब कारन । उठे हरषि सुर-काज सँवारन ॥

तुलसी के अतिरिक्त विशिष्टाद्वैत के सिद्धान्त की पुष्टि करने वाले अन्य कवि भी हैं जैसे गोरखनाथ कह उठते हैं—

बाहरि न भीतरि नेड़ा न दूरि ।
षोजत रहे ब्रह्म अरु सूर ॥
सेत फटक मनि हीरैं बीधा ।
इहि परमारथ श्री गोरख सीधा ॥

सम्पूर्ण जगत ब्रह्म का शरीर है और इसलिए इस जगत में ब्रह्म व्याप रहा है। सृष्टि में जो अनेक भेद दिखाई देते हैं उन सबका कारण ब्रह्म ही है।

एक मैं अनन्त, अनन्त मैं एकै, एकै अनन्त उपाया ।
अंतरि एक सौं परचा हुवा, तब अनंत एक मैं समाया ॥

इन सबसे प्रकट है कि ब्रह्म और जीव का सम्बन्ध व्यापक और व्याप्य का है।

जीव—जीव आकार में अणु के समान है। इसकी सत्यता श्रुति के आधार पर ही प्रमाणित की जा सकती है। उपनिषदों में जीव को—

अंगुष्ठ मात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति ॥ कठ ॥

तथा—

बालाग्र शत भागस्य शतधा कल्पितस्प च ।
भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्या कल्पते ॥ श्वेताश्वेतर ॥

कहा गया है। रामानुज उपनिषद् में वर्णित व्याख्या को स्वीकार करते हुए जीव के सम्बन्ध—शंकर से भिन्न विचार प्रस्तुत करते हैं। वे इस बात को स्वीकार नहीं करते कि जीव शुद्ध रूप में पूर्ण ब्रह्म है, माया के योग से वह जीव कहलाता है और उसका स्वयं कोई अस्तित्व नहीं है। रामानुज कहते हैं कि जीव की वास्तविक सत्ता है—वह नित्य है, चेतन है, परिवर्तन-रहित है तथा दर्शनीय नहीं है (Perceptible)। यह शरीर से, इन्द्रियों से और बुद्धि से भिन्न है।

यह ज्ञाता, कर्ता तथा भोक्ता है। अणु रूप होते हुए भी यह सारे शरीर में सुख तथा दुःख अनुभव कर सकता है क्योंकि इसमें ज्ञान का गुण है जो घटता एवं बढ़ता रहता है। यह उसी प्रकार है जिस प्रकार दीपक की लौ छोटी होती हुई भी अनेकों वस्तुओं को प्रकाशित करती रहती है। जीव जन्म-मरण के झंझट में परिवर्तित नहीं होता। इस संसार में इसका आवागमन होता है परन्तु इसकी एकता (Identity) सुरक्षित रहती है। प्रलय होने पर जीव के विभिन्न आकार नष्ट हो जाते हैं, यद्यपि जीव अपने में अविनाशी है। वह नूतन सृष्टि होने पर फिर इस संसार में आता है। जीव का सबसे बड़ा गुण उसकी अहं-बुद्धि है। यह जीव की सबसे बड़ी विशेषता है क्योंकि इसके बिना मोक्ष प्राप्ति का प्रयत्न करना व्यर्थ है। जीव का ईश्वर से तादात्म्य नहीं है। यह ब्रह्म का अंश है, परन्तु अंश का अर्थ भी किसी एक में से काटकर किए हुए में से नहीं है। रामानुज का कहना है कि जीव ब्रह्म के विशेषण के रूप में है। जीव में कार्य करने की स्वतन्त्रता है यद्यपि केवल जीव के प्रयत्नों से ही कार्य नहीं हो सकता है और ईश्वर के सहयोग की आवश्यकता पड़ती है। रामानुज ईश्वर और जीव के सम्बन्ध को शेषशेषी भाव कहते हैं।

जीव तीन प्रकार के होते हैं—(१) जो वैकुण्ठ में निवास करते हैं और कर्म तथा प्रकृति से स्वतन्त्र होते हैं तथा आनन्द का भोग करते हैं, वे नित्य हैं। (२) जो अपनी बुद्धि, गुण तथा भक्ति से मोक्ष प्राप्त करते हैं, वे मुक्त हैं। तथा (३) वे जो अज्ञान तथा स्वार्थ के कारण संसार में चक्कर लगाते रहते हैं, वे बद्ध हैं। जीव ऊँचे से ऊँचे स्थान को भी प्राप्त कर सकता है और नीचे से नीचे गिर भी सकता है, यहाँ तक कि मनुष्यत्व से पशुत्व तक भी पहुँच सकता है। संसार में भ्रमण करने वाले जीव चार प्रकार के होते हैं—देवता, मानव, पशु एवं स्थावर। वैसे तो सब जीव एक ही प्रकार के होते हैं, अन्तर तो उन शरीरों के कारण है जिनसे उनका लगाव होता है। जाति-अन्तर भी

विभिन्न शरीरों के जीव के लगाव के कारण ही है—स्वयं में जीव न मानव है, न देव, न ब्राह्मण, न शूद्र। जब तक जीव को मुक्ति नहीं मिलती, तब तक वह कर्म-फल भोगने के लिए जन्म धारण करता रहता है।

वह मूल शक्ति उठ खड़ी हुई,
अपने आलस का त्याग किए,
परमाणु बाल सब दौड़ पड़े,
जिसका सुन्दर अनुराग लिए।

मूलशक्ति ब्रह्म ही इस जगत की रचयिता है। उसके चारों ओर ही यह सब तत्त्व बिखरे पड़े हैं जो उसी की कृतियों में उसकी इच्छानुसार ही योग दिया करते हैं। इसी भावना को व्यक्त करते हुए श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' कहते हैं—

"तुम विमल हृदय उच्छ्वास,
और मैं कान्त कामिनी कविता।"

जिस प्रकार कवि के उद्‌गार ही कविता है वैसे ही वह परम-ब्रह्म जीव से भिन्न होते हुए भी जीव में व्याप्त है।

मोक्ष तथा नैतिक जीवन :—

संसार में जीव शरीर के साथ उसी प्रकार रहते हैं जिस प्रकार कि द्वीप-निवासी समुद्र की ओर से बेखबर होकर रहते हैं। जीव अपने पुरातन कर्मों के कारण भौतिक शरीर में बद्ध रहता है और इसका अन्तः प्रकाश बाह्य प्रकाश द्वारा अवरुद्ध रहता है। यह प्रकृति को अपना सच्चा रूप समझता है। मानव के क्षणिक आनन्द को सत्य समझता है तथा ईश्वर से दूर हो जाता है। आत्मा का पतन अविद्या तथा कर्म के कारण होता है—पाप से उन्नति ही अवरुद्ध नहीं होती परन्तु वह ईश्वर के प्रति अपराध भी है। अविद्या को विद्या से दूर करना होता है अर्थात् इस बात का अनुभव करना होता है कि ईश्वर ही सब जीवों में सर्वोपरि है। रामानुज जीवों को अपनी इच्छा-

शक्ति के अनुसार कार्य करने की स्वतन्त्रता प्रदान करते हैं। जहाँ तक उत्तरदायित्व का सम्बन्ध है प्रत्येक व्यक्ति ईश्वर के लिए, 'दूसरा' भिन्न व्यक्ति है। जबकि जीव अपनी निर्भरता ईश्वर पर स्वीकार नहीं करता तो ईश्वर कर्म के द्वारा इस तथ्य के समझाने में उसकी सहायता करता है और इसी से अपने पाप-युक्त कर्मों की याद करते हुए जीव दण्ड भागी होता है। रामानुज कहते हैं कि मोक्ष सम्भव है पर ज्ञान तथा कर्म से नहीं, परन्तु भक्ति और प्रसाद से। भक्ति प्राप्त होती है, इस सत्य पर ध्यान केन्द्रित करने से कि ईश्वर हमारी अन्तरात्मा है और हम केवल उसके प्रकार हैं, । परन्तु जब तक दुष्कर्मों का नाश नहीं होता, यह सम्भव नहीं है। ज्ञान और कर्म दोनों भक्ति के साधन हैं। अतः भक्ति, शान्ति और मनन से ईश्वर का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने का नाम है। भक्ति के लिए कुछ बातों की बड़ी आवश्यकता है; जैसे—विवेक, विमोक, अभ्यास, क्रिया, कल्याण, सत्य, आर्जवम्, दया, अहिंसा दान तथा अनावसाद। भक्ति केवल भावुकता नहीं है। इसमें इच्छा-शक्ति और धी की शिक्षा (Training) सम्मिलित है। यह ईश्वर-ज्ञान है और उसकी इच्छा के अनुरूप चलना है। सम्पूर्ण मस्तिष्क और हृदय से ईश्वर को प्रेम करने का नाम ही भक्ति है। भक्ति दो प्रकार की होती है—वैधी और मुख्य। पहली भक्ति से तात्पर्य है जिसमें प्रार्थना, पूजा आदि की आवश्यकता है। हमें परम तत्व की आराधना करनी चाहिए।

प्रपत्ति ईश्वर में पूर्ण शरणागति का नाम है और विद्वान् या मूर्ख सब इसके समान रूप से अधिकारी हैं; परन्तु भक्ति-पद केवल 'द्विजातियों' के लिए ही हैं। भक्ति तथा शरणागति वाले धर्म के लिए मध्यस्थ की आवश्यकता नहीं, क्योंकि प्रेम की भेंट में शास्त्रों की रोक नहीं और ईश्वर के प्रसाद में किसी बाह्य एजेन्ट की आवश्यकता नहीं। जो गम्भीर भक्ति में तल्लीन है, वह नियमादि तथा शास्त्रादि बन्धनों को नहीं जानता। इस प्रकार रामानुज पूजा में समानता तथा बराबरी का

उपदेश करते हैं और घोषणा करते हैं कि भक्ति सब जाति बन्धनों से परे है।

भक्ति तथा मोक्ष का घनिष्ट सम्बन्ध है। भक्ति की प्रत्येक सीढ़ी पर हम पूर्णतः की ओर जाते हैं, परन्तु रामानुज के अनुसार मोक्ष परम तत्व में विलीन हो जाना नहीं है। वस्तुतः सीमित चार दीवारियों से छुटकारा पाना ही मोक्ष है। आत्मा का परमात्मा में विलीन हो जाना आत्मा के अस्तित्व का नाश होना है। एक तत्व दूसरे तत्व में विलीन नहीं हो सकता। मनुष्य कितनी भी उन्नति क्यों न करले हमेशा सर्व शक्तिमान सत्ता विद्यमान रहेगी और उसके प्रति आदर, पूजा तथा प्रशंसा का भाव रहेगा। रामानुज धार्मिक अनुभव को सर्वोपरि मानते हैं और कहते हैं कि इसमें 'दूसरे' की भावना भी निहित है, अतः मुक्त जीव ईश्वर से तादात्म्य प्राप्त नहीं करता परन्तु उस जैसा हो जाता है। इसमें जीव को सर्वज्ञता और ईश्वर अनुभूति प्राप्त हो जाती है। इसे अन्य किसी वस्तु की इच्छा भी नहीं होती, इसलिए वह आवागमन से मुक्त हो जाता है। तादात्म्य मुक्ति में तो अहमन्यता है, व्यक्तिगत स्वतन्त्रता नहीं है। रामानुज जीवन-मुक्ति को नहीं मानते। कर्मों का और भौतिक शरीर का नाश होने पर जीव को ईश्वर का सामीप्य प्राप्त होता है। मुक्तावस्था में जीव 'चित्' और 'आनन्द' का अनावरुद्ध भोग करता है। मुक्तावस्था में सब जीव समान होते हैं। इसमें देव, मानव, पशु तथा बनस्पतियों का अन्तर नहीं होता। संसार में यह अन्तर भौतिक शरीर के अन्तर के कारण होता है। जैसे ही उन भौतिक शरीरों का नाश हो जाता है, जीव, ब्रह्म जैसा ही हो जाता है और अपने वास्तविक रूप में हो जाता है। मुक्तावस्था में जीव ईश्वर की पूर्ण अवस्था को प्राप्त कर लेता है। उसमें केवल दो ही कमियाँ रह जाती हैं। एक तो जीव अणु है और ईश्वर 'सर्वान्तर्यामी' है और दूसरे संसार के सृजन पर उसका कोई अधिकार नहीं है।

विशिष्टाद्वैत में मुक्त जीव दो प्रकार के होते हैं। एक तो वे जो संसार में भी ईश-सेवा में संलग्न रहते थे और परलोक में भी। दूसरे 'केवल' ज्ञानी हैं जो दूसरों से अलग रहते हैं और निरन्तर मनन से इस अवस्था को पहुँचते हैं।

विशिष्टाद्वैत मत में ज्ञान से अधिक महत्व भक्ति को ही दिया गया है। भक्ति ही से दलित से दलित और ऊँच से ऊँच तर सकते हैं। रामानुज शंकराचार्य की भाँति जीवन्मुक्ति और एकाकार होने वाली भावना से सहमत नहीं। उन्हें तो ब्रह्म के समान होने वाली भावना से प्रेम है—

ज्ञान पन्थ कृपान कै धारा। परत, खगेस! होइ नहिं बारा।

तुलसी ने ज्ञानपन्थ की कठिनाइयों को पूर्णरूपेण बताया है। ज्ञानपन्थ पर जो निरन्तर चला जाता है उसी को 'सोऽहमस्मि' का अनुभव प्राप्त होगा। इसीलिए तुलसी ने जिस भावना पर संसारी जीवों को निर्भर रहने का आदेश दिया है और फलस्वरूप तरने को कहा है वह भावना—

सेवक सेव्य भाव बिनु, भव न तरिअ उरगारि।
भजहु राम पद पंकज, अस सिद्धान्त बिचारि॥

अर्थात् सेवक-स्वामिभाव के बिना इस संसार से कोई पार नहीं हो सकता। यही भक्ति 'चिन्तामणि' के समान है और इसीलिए जिसमें भक्ति होती है, वह—

मोरे मन प्रभु अस बिस्वासा। राम तें अधिक राम कर दासा।

प्रभु से भी बढ़ कर हो जाता है।

गोस्वामी जी इसीलिए वाद-विवाद छोड़कर भक्ति-रस में सरोबर होने का आदेश करते हैं।

वाद-विवाद-स्वाद तजि भजि हरि सरस चरित चित लावहि।

इसी राम-भक्ति से बिना इच्छा और प्रयत्न के मोक्ष प्राप्त होती है।

राम भजत सोइ मुक्ति गुसाईं । अनइच्छत आवइ बरि आईं ॥

जैसे ही जीव को इस बात का बोध हो जाता है—

जो कछु बात बनाइ कहौं, तुलसी तुम में, तुमहूँ उर माहीं ।
जानकी-जीवन जानत हौ हम हैं तुम्हरे, तुम में सक नाहीं ॥

वैसे ही जीव बन्धनों से मुक्त हो जाता है ।

तुलसी बार-बार शरणागत की रक्षा राम के द्वारा करवाते हैं । जो भूले-भटके भी राम का नाम ले लेते हैं वे संसार से तर जाते हैं—

नाम अजामिल से खल कोटि, अपार नदी भव बूड़त काढ़े ।

ऐसे ही गणिका आदि के तारने की बात बार-बार आती है। वैसे ही राम अपने परम भक्त विभीषण को रावण से बचाने की चिन्ता करते हैं—

गिरि कानन जैहैं शाखामृग, हौं पुनि अनुज-संघाती ।
ह्वैहै कहा बिभीषन की गति, रही सोच भरि छाती ॥

पुनश्च—

सरनागत कहँ जे तजहिं, निज अनहित अनुमानि ।
ते नर पाँवर पाप-मय, तिनहिं बिलोकत हानि ॥

तो, जो शरणागत की रक्षा न करें वे मनुष्य पापियों में सर्वश्रेष्ठ हैं । राम को भी लक्ष्मण के बेहोश हो जाने पर उनका साथ देने के प्रयत्न में अपनी और अपने मित्र बानरों की चिन्ता नहीं होती । उन्हें अपने शरणागत विभीषण की ही चिन्ता होती है तो ऐसे हैं राम । फिर जो संसार का गोरख धन्धा छोड़कर मन, वचन और कर्म से उनकी भक्ति करते हैं, वे भगवान के प्रेम पात्र बनते हैं ।

अंतर्जामिहु ते बड़ बाहिर जामि हैं राम, जो नाम लिए तें ।
पैंज परे प्रहलादहु को प्रगटे प्रभु पाहन तें, न हिए तें ॥

पुनश्च

अधम ते अधम अधम अति नारी, तिन महँ मैं अति मन्द गँवारी ।
कह रघुपति सुनु भामिनि बाता । मानौ एक भक्ति कर नाता ॥

भक्ति में जाँति-पाँति, छोटे-बड़े का भेद नहीं रहता। इसीलिए भगवान् स्वयं अपने मुँह से शबरी से कहते हैं—'मैं तो केवल भक्ति का ही नाता मानता हूँ और कोई नहीं' इसलिए, जीव जब प्रेमपूर्वक भक्ति का आश्रय लेता है तब वह ब्रह्म जैसा ही हो जाता है।

सोइ जानहि जेहि देहु जनाई। जानत तुम्हहिं तुम्हहिं होइ जाई॥

तुलसी (अद्वैतवादी ? अथवा विशिष्टाद्वैती ?)

हमने तुलसी के विचारों का उल्लेख अद्वैतवाद तथा विशिष्टाद्वैत वाद दोनों में ही किया है। इससे पाठकों को भ्रम होने की आशंका है। इसके निराकरण के लिए यह आवश्यक है कि तुलसी की वास्तविक स्थिति क्या है इस सम्बन्ध में अन्य आलोचकों का मत देते हुए हम पाठकों को इन भ्रमात्मक मतभेदों में न पड़ने दें।

तुलसी वास्तव में क्या थे, किस दर्शन का उन्होंने समर्थन किया, यह तभी समझा जा सकता है जब हम उनके दृष्टि कोण को समझ लें। तुलसी की दृष्टि समन्वयवादी थी और उन्होंने उस समय के फैले हुए हर विरोध में समन्वय का प्रयत्न किया। यह बात शैव, शाक्त और वैष्णव सम्प्रदायों के मतभेदों को दूर करने के प्रयत्न से स्पष्ट हो जाती है। जैसे वह कहते हैं—

शिवद्रोही ममदास कहावै। सो नर सपनेहुँ मोहिं न भावै॥

इस प्रकार उन्होंने हर जगह ही अपने समन्वयवादी दृष्टिकोण को रखा है। जहाँ तक उनके दार्शनिक सिद्धान्तों का प्रश्न है वे पं० गिरधर शर्मा चतुर्वेदी के अनुसार शांकर मत के अनुयायी अर्थात् अद्वैतवादी थे। वे कहते हैं, "दावे के साथ कहा जा सकता है कि शांकर अद्वैत के विरुद्ध पड़ने वाले साम्प्रदायिक विचार रामायण में है ही नहीं। बहुत सी बातें सबके मत में एक जैसी होती हैं, जो कि शास्त्र में 'सर्वतंत्र सिद्धान्त' कहलाती हैं, वे किसी के विरुद्ध नहीं पड़तीं। ऐसी बातें रामायण में अवश्य मिलेंगी जिनकी उत्पत्ति विशिष्टाद्वैत आदि वैष्णव साम्प्रदायिक मतों में भी हो सकती है और शांकर अद्वैत सिद्धान्त में भी हो सकती हैं। किन्तु, शांकर अद्वैत के प्रतिकूल

केवल साम्प्रदायिक वाद में ही उत्पन्न होने वाले सिद्धान्त गोस्वामी जी की रामायण में कहीं उपलब्ध नहीं होते ।"

इसका खंडन रायकृष्ण दास जी ने किया, परन्तु 'तुलसी-दर्शन' के लेखक डा० बलदेवप्रसाद मिश्र ने भी तुलसी को सिद्धान्ततः अद्वैत-वादी ही माना है । वैसे वे आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जी के मत से अधिक सहमत हैं । आचार्य जी कहते हैं 'परमार्थ दृष्टि से—शुद्ध ज्ञान की दृष्टि से—तो अद्वैत मत गोस्वामी जी को मान्य है, पर भक्ति के व्यवहारिक सिद्धान्त के अनुसार भेद करके चलना वे अच्छा समझते हैं ।" वे यह भी कहते हैं कि "साम्प्रदायिक दृष्टि से तो वे रामानुजाचार्य के अनुयायी थे ही जिनका निरुपित सिद्धान्त भक्तों की उपासना के बहुत अनुकूल दिखाई पड़ा ।" डा० राम कुमार वर्मा इसी मत का समर्थन करते हुए तुलसी को विशिष्टा-द्वैत-वादी मानते हैं ।

उपरोक्त मान्यताओं को देते हुए हमारी राय तो यही है कि तुलसी दर्शन के क्षेत्र में भी समन्वयवादी थे । सिद्धान्ततः वे अद्वैतवादी हैं । पर जैसे अद्वैतवाद में कुछ कमियों की पूर्ति विशिष्टाद्वैतवाद करता है वैसे ही तुलसी को भक्ति के लिए विशिष्टाद्वैतवाद का सहारा लेना पड़ा । अतः उनका दार्शनिक सिद्धान्त विशिष्टाद्वैतोन्मुख अद्वैतवाद है ।
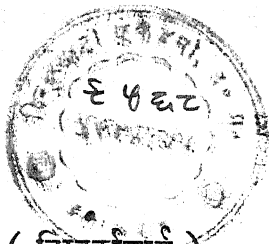
द्वैताद्वैतवाद (निम्बर्काचार्य)

आचार्य निम्बर्काचार्य ने द्वैताद्वैत मत चलाया। आपने रामानुजाचार्य के विशिष्ट ईश्वर की आलोचना की है और यह कहा है कि चित् तथा अचित् ईश्वर के विशेषण नहीं हैं। इनके इस दृष्टिकोण का आधार यह है कि विशेषण का अर्थ विशिष्ट पदार्थ को अन्य पदार्थों से भिन्न करना है और रामानुज के दर्शन में यह बात स्पष्ट नहीं है कि चित् तथा अचित् विशेषण ईश्वर को किस से भिन्न करते हैं। वैसे तो निम्बार्काचार्य रामानुज की भाँति भेद तथा अभेद दोनों को आवश्यक समझते हैं और जड़ तथा चेतन को ईश्वर के गुण मानते हैं, परन्तु रामानुज तादात्म्य पर अधिक बल देते हैं और निम्बार्क के लिए दोनों का समान महत्व है।

जीव—निम्बार्क के मत में जीव ज्ञान-स्वरूप होता है। यह ज्ञाता तथा ज्ञेय दोनों हैं। जीव का अपने विशेषण से वही सम्बन्ध है जो धर्मी का धर्म से है। इसका अर्थ हुआ कि उसमें अन्तर है भी और नहीं भी। विशेषण तथा विशेष्य में पूर्ण तादात्म्य नहीं है परन्तु अन्तर का न जानना (Non-perception) ही कारण है। जीव अणु है और ज्ञान के कारण दुःख-सुख का समस्त शरीर पर अनुभव करता है। जीव कर्तृ है। जीव को स्वतन्त्र ज्ञान नहीं है। जीव प्रत्येक दशा में आनन्दमय है। जीव सुषुप्तावस्था में तथा मुक्तावस्था में रहता है। ईश्वर जीव का शासक है और जीव अगणित हैं।

जीव न तो सम्पूर्ण है और न उसकी सत्ता ही सम्पूर्ण है। वह सम्पूर्ण के साथ रहता हुआ भी अपनी सत्ता में उपस्थित है, जैसे आग सम्पूर्ण है और उसकी चिनगारियाँ उसका अंश हैं। आग में सब चिन-

गारियाँ सम्मिलित हैं, चिनगारी सम्पूर्ण आग नहीं है, आग में रहते हुए भी चिनगारी की स्वतन्त्र सत्ता है, परन्तु आग चिनगारी और आग दोनों में रहती है। इसी द्वैताद्वैत भाव को तुलसीदास जी ने इस प्रकार व्यक्त किया है—

ईश्वर अंश जीव अविनासी। चेतन अमल सहज गुन रासी॥

फिर—

परबस जीवन स्वबस भगवंता। जीव अनेक एक श्रीकन्ता॥

जीव ईश्वर का अंश है, अविनाशी है, चैतन्य-स्वरूप है और गुण-स्वरूप है। जीव परतन्त्र है और जीव अनेक हैं।

संसार—जगत में तीन मुख्य तत्व हैं—(१) अप्राकृत, (२) प्रकृति, (३) काल। ये तीनों तत्व भी जीव की भाँति नित्य हैं। निम्बार्क जगत को मिथ्या नहीं मानते। वे शंकर के विवर्तवाद की आलोचना करते हैं क्योंकि वह जगत को ईश्वर का परिणाम मानते हैं।

जब असीम को कौतुक आया।
तब अनित्य काया में आया॥
इच्छा से उपजाई माया।
जिसने जग प्रपंच फैलाया॥
ज्योति पर डाला अवगुंठन,
अश्रका अंबुधि है जीवन॥

—'विक्रमादित्य'

यह जगत असीम की इच्छा के फलस्वरूप कौतुक के लिए रचा गया, परन्तु जगत शंकर के जगत की भाँति असत्य अथवा मिथ्या नहीं है। यहाँ माया का अर्थ 'ईश्वर की लीला' से है, शंकर की 'माया' के समान नहीं है।

आपुहि बीज बृच्छ पुनि आपुहि, आप फूल फल छाया।
आपुहि सूर किरन परकासा, आप ब्रह्म जिव माया॥

अण्डाकार सुन्न नभ आपै, स्वास सबद अरथाया।
निहअच्छर अच्छर छर आपै, मन जिव ब्रह्म समाया॥
आतम में परमातम दरसै, परमातम में झाईं।
झाईं में परछाईं दरसै, लखे कबीरा साईं॥

द्वैताद्वैती भेदाभेद दोनों को मानकर चलते हैं। वे माया का वास्तविक अस्तित्व मानते हैं। भेदाभेदी सर्वात्मविकासवादी हैं।

ईश्वर—ईश्वर का नित्य धर्म नियंतृत्व है। निम्बार्क मध्व के नारायण तथा लक्ष्मी की जगह कृष्ण तथा राधा को स्थान देते हैं। कृष्ण अज्ञान, अहं, मोह आदि सबसे परे हैं। ईश्वर अवतार लेता है। वह जगत का उपादान एवं निमित्त कारण है। जीव, जगत और ईश्वर तीनों का सम्बन्ध तादात्म्य नहीं है। न यही कहा जा सकता है कि उनमें पूर्ण अन्तर है। यदि ईश्वर, जीव और जगत से बिल्कुल भिन्न होता तो वह अन्तर्यामी नहीं हो सकता। यदि वह जीव या जगत की भाँति सीमित होता तो फिर वह नियन्ता अर्थात् शासक नहीं हो सकता था। तादात्म्य को वास्तविकता मानना भी ठीक नहीं है क्योंकि ब्रह्म उन सब दोषों का आकार हो जावेगा जिनको हम सुख दुःख आदि नामों से पुकारते हैं; इसलिए निम्बार्क अन्तर और तादात्म्य दोनों को वास्तविक मानते हैं।

जीव और जगत ब्रह्म से भिन्न हैं क्योंकि उनमें ब्रह्म से कई भिन्न गुण होते हैं। वे ब्रह्म से भिन्न नहीं हैं क्योंकि उनकी कोई सत्ता नहीं है। वे ईश्वर पर निर्भर हैं। अतः 'तत्त्वमसि' निम्बार्क के अर्थ में इस प्रकार है, 'तत्' का अर्थ ब्रह्म; 'त्वम्' का अर्थ 'जीव' और 'असि' दोनों के अन्तर तथा तादात्म्य को प्रकट करता है। ऐसा ही सम्बन्ध सूर्य और उसकी किरण में है। यही सम्बन्ध जल तथा लहर में है। जब प्रलय होती है तो जीव और जगत दोनों लय हो जाते हैं। ब्रह्म अपनी शक्ति से जगत की उत्पत्ति करता है। जीव का शुद्ध स्वभाव कर्म के कारण अवरुद्ध रहता है जो अनादि अविद्या का परिणाम है,

पर जो ईश्वर के प्रसाद से नष्ट हो सकता है। प्रपत्ति अर्थात् शरणागति मोक्ष का मार्ग है। जिनमें यह शरणागति का भाव होता है, ईश्वर उनकी सहायता करता है। उनमें भक्ति प्रदान करता है जिससे उन्हें ब्रह्म का साक्षात्कार होता है। परम तत्व का ज्ञान, आत्मा का ज्ञान, ईश्वरीय प्रसाद या मोक्ष के फल का ज्ञान (जिसमें कि ब्रह्म का साक्षात्कार होता है और जिससे स्वार्थ और अज्ञान का नाश होता है), ब्रह्म-साक्षात्कार में बाधाओं का ज्ञान (जैसे कि जीव का भौतिक शरीर के साथ तादात्म्य, या ज्ञानेन्द्रियों अथवा मस्तिष्क के साथ तादात्म्य, ईश्वर के अतिरिक्त किसी दूसरे पर निर्भर रहना, उसकी आज्ञाओं के प्रति उदासीनता और साधारण वस्तुओं के साथ ईश्वर को मिला देना) तथा सच्ची श्रद्धा से आनन्द और स्वतन्त्रता की भावना होना भक्ति में निहित हैं। भक्ति उपासना नहीं है, परन्तु प्रेम और श्रद्धा है। ईश्वर का प्रसाद असहायों की रक्षा करता है और उन्हें सचाई के दर्शन कराता है। दूसरे देवताओं की भक्ति वर्जित है।

द्वैताद्वैत में ब्रह्म की सत्ता को द्वैत-रूप में माना गया है। प्रत्यक्षतः द्वैत-रूप का अभाव होने पर भी द्वैत-भाव नित्य है; जैसे—'समुद्र पानी ही पानी है परन्तु बूँदों की स्वतन्त्र सत्ता सागर में रहते हुए भी नित्य है।' कबीर कहते हैं—

लाली मेरे लाल की, जित देखूँ तित लाल।
लाली देखन हौं गई, हौं हूँ ह्वै गई लाल॥

यहाँ पर द्रष्टा और द्रष्टव्य दोनों ही अलग-अलग हैं। द्रष्टा द्रष्टव्य में मिलकर भी अपनी सत्ता रखता है, खो नहीं देता। प्राणनाथ कहते हैं—

अब कहूँ इसक बात, इसक सबदातीथ साख्यात।
ब्रह्म सृष्टि ब्रह्म एक अंग, ये सदा अनन्द अतिरंग॥

अर्थात् सृष्टि अत्यन्त आनन्दमय प्रेम-स्वरूप परमात्मा का एक अंग मात्र है। शालिग्राम ने भी कहा है—

जीव अंस सत पुरुष से आई। ... ...
पुरुष अंस तू धुरपद से आई। तिरलोकी में रही फंसाई ॥
आगे शिवदयाल कहते हैं—

भक्ति और भगवन्त एक हैं, प्रेम रूप तू सतगुरू जान ।
प्रेम रूप तेरा भी भाई, सब जीवन को यों ही जान ॥
एक भेद यामें पहिचानो, कहीं बुंद कहीं लहर समान ।
कहीं सिंध सम करे प्रकासा, कहीं सोत औ पोत कहान ॥

सुरत (जीवात्मा) और राधास्वामी (परमात्मा) मूल-स्वरूप में एक ही हैं, परन्तु विस्तार और महत्ता में एक नहीं। सुरत भी प्रेम-स्वरूप है, पर राधास्वामी तो प्रेम का भाण्डार ही हैं। अगर सुरत जल की बूंद है तो परमात्मा समुद्र। जिस प्रकार समुद्र की बूँद में समुद्र के सब गुण विद्यमान रहते हैं, उसी प्रकार जीवात्मा में भी परमात्मा के सब गुण विद्यमान हैं, पर कम मात्रा में।

मीरा भी :—

मेरे तो गिरधर गोपाल, दूसरो न कोई ।
जाके सिर मोर मुकट, मेरो पति सोई ॥

अपने प्रसिद्ध पद में इसी द्वैताद्वैत भावना की पुष्टि करती है। शहजादा दारा शिकोह ने बाबालाल जी से प्रश्न किया "क्या जीवात्मा, प्राण और देह सब छायामात्र हैं?" बाबालाल ने उत्तर दिया "जीवात्मा और परमात्मा मूल-स्वरूप में एक समान हैं, और जीवात्मा उसका अंश है। उनके बीच वही सम्बन्ध है जो बुँद और सिन्धु में। जब बुंद सिन्धु से मिल जाता है तो वह भी सिन्धु हो जाता है।" दाराशिकोह को इससे सन्तुष्टि नहीं हुई और उसने पुनः पूछा, "तो फिर जीवात्मा और परमात्मा में भेद क्या है?" बाबालाल ने उत्तर दिया, "उनमें कोई भेद नहीं है। जीवात्मा को हर्ष-विषाद की अनुभूति इसलिए होती है कि वह पाँचभौतिक शरीर के बन्धन में पड़ा है। गंगाजल हमेशा गंगाजल रहेगा चाहे वह नदी में बहता

हो अथवा घड़े में भरा हो।" इस प्रकार बाबालाल ने भी भेदा-भेद अथवा अंशाशि अथवा द्वैताद्वैत को ही अपनाया है।

इसी तथ्य को महादेवी इस प्रकार प्रकट करती हैं—

नयन में जिसके जलद वह तृषित चातक हूँ।
शलभ जिसके प्राण में वह निठुर दीपक हूँ॥
फूल को उर में छिपाए विकल बुलबुल हूँ।
एक होकर दूर तन से छाँह वह चाल हूँ॥
दूर तुम से हूँ अखंड सुहागिनी भी हूँ॥

मोक्ष—नानक और बाबालाल के अनुसार मोक्ष होने पर पर-मात्मा जीवात्मा से इस प्रकार घुल-मिल जाता है कि जीवात्मा की कोई अलग सत्ता ही नहीं रह जाती। परन्तु शिवदयाल के मत में मोक्ष होने पर सुरत राधास्वामी में मिल नहीं जाती परन्तु राधास्वामी के चरणों में चिन्मय जीवन अवश्य प्राप्त हो जाता है। वे राधास्वामी और सुरत का मिलन सागर और बूँद का मिलन मानते हैं, बूँद सिन्धु में समाकर उसके साथ अभेद रूप से एक नहीं हो जाती है। मुक्त सुरत राधास्वामी के साथ सायुज्य सुख भोगा करते हैं और अनन्त काल तक विश्राम करते हैं। धरनी ने भी नीचे लिखे रूपक में यही बात समझाई है।

"छुटी मजूरी, भये हजूरी, साहिब के मनमाना।"

शुद्धद्वैतवाद (मध्वाचार्य)

परिचय—शंकराचार्य के अद्वैत दर्शन के विरोध में जो दर्शन खड़े हुए उनमें सर्वप्रथम शुद्धद्वैत दर्शन है जिसके प्रवर्तक मध्वाचार्य हैं। मध्वाचार्य के अधिकांश विचार रामानुज से मिलते हैं। मध्वाचार्य पाँच वृहत् अन्तरों पर अधिक जोर देते हैं। वे इस प्रकार हैं (१) ईश्वर तथा जीव का अन्तर, (२) ईश्वर और प्रकृति का अन्तर, (३) जीव और प्रकृति का अन्तर, (४) जीव व जीव में अन्तर, (५) प्रकृति के एक अंश का दूसरे अंश से अन्तर। माधव पर तीन कारणों से ईसाई धर्म का प्रभाव मालूम पड़ता है यद्यपि इसके लिए बहुत कम प्रमाण हैं। वे तीन कारण यह हैं—(१) विष्णु-पुत्र वायु की मध्यस्थता वाला सिद्धान्त, (२) नित्य नरक-वास, (३) माधव का मिशनरी (धर्म-प्रचारकों) जैसा उत्साह।

माधव का ईश्वर—अनन्त काल से तीन भिन्न-भिन्न मूल तत्व चले आ रहे हैं जो ईश्वर, आत्मा तथा प्रकृति हैं। यद्यपि ये सब अपनी सत्ता रखते हैं तथापि प्रकृति तथा जीव ईश्वर के आश्रित हैं, केवल ब्रह्म की ही स्वतन्त्र सत्ता है जो संसार का नियन्ता है। हम उसके स्वभाव को वेदों का अध्ययन करके जान सकते हैं, अतः उसका स्वभाव अज्ञेय नहीं है। मध्वाचार्य ने 'एक मेवाद्वितीयम् ब्रह्म' श्रुति के वाक्य का तात्पर्य ब्रह्म को सर्वश्रेष्ठ मानते हुए किया है। ब्रह्म से बढ़कर अन्य कोई नहीं है। ब्रह्म हर प्रकार से पूर्ण है। उसका तादात्म्य मध्वाचार्य ने विष्णु से किया है और वह जगत को तथा जो कुछ उसमें हैं, उसको अपनी इच्छा से स्वेच्छाचारी शासक की भाँति चलाता है। वह जगत का बार-बार सृजन करता है तथा उसको बार-बार नष्ट करता है। ब्रह्म के

अलौकिक शरीर है, क्योंकि वह सब जीवों में अन्तर्यामी है। वह भिन्न-भिन्न व्यूहों में प्रकट होता है, समय-समय पर अवतार लेता है और मूर्तियों में रहस्यात्मक ढंग से निवास करता है। ज्ञान कराता है। कुछ लोगों को दण्ड देता है तथा कुछ का उद्धार करता है। लक्ष्मी उसकी सहचरी है जो भिन्न-भिन्न रूप धारण कर सकती है। उसका भौतिक शरीर नहीं है और सर्वव्यापी है। लक्ष्मी नित्यमुक्त है। लक्ष्मी ईश्वर की सृजन-शक्ति का साक्षात्-रूप है। वह चेतन प्रकृति है यद्यपि ईश्वर उससे गुणों में अधिक है। ईश्वर आत्मा पर शासक की भाँति राज्य करता है, यद्यपि वह उसकी उत्पत्ति नहीं करता और न उसका नाश ही करता है। वह जगत का उपादान कारण नहीं, केवल निमित्त कारण है। ईश्वर कर्म पर निर्भर नहीं रहता, क्योंकि कर्म ही ईश्वर पर निर्भर है।

जीवात्मा—जैन दार्शनिकों की भाँति मध्वाचार्य भी प्रत्येक पदार्थ को आत्मा तथा जीव-युक्त समझते हैं। एक परमाणु के बराबर स्थान में अनन्त जीव रहते हैं। मध्वाचार्य जीव और ब्रह्म के अन्तर को तात्विक समझते हैं। उनका कहना है कि जीव और ब्रह्म मोक्षावस्था में एक-से और संसार में भिन्न नहीं हो सकते। यद्यपि जीव ईश्वर के आश्रित है तथापि जीव सक्रिय है और उत्तरदायित्व रखता है। जीव अणु है। यह शरीर को बुद्धिमता के कारण घेरे रहता है। यह ज्ञान-रूप है (Cognising principle) जिसके कारण इसमें अहमन्यता का भाव आता है। यही इसके व्यक्तित्व का आधार है। जीव स्वभावतः आनन्दमय है। जड़ तत्व का संयोग उसके दुख का कारण है। जब तक इसमें अपवित्रता का निवास रहता है, यह, शरीर धारण करता रहता है। मोक्षावस्था में जीव का आनन्द अभिव्यक्त हो जाता है। जीव भिन्न होते हैं। चेतन जीव तीन प्रकार के होते हैं—(१) नित्य-मुक्त जैसे लक्ष्मी, (२) जिन्होंने संसार से मुक्ति पा ली है जैसे देवता, मनुष्य, ऋषि; (३) बद्ध।

प्रकृति—सब जड़ वस्तुओं का मूल प्रकृति है। ईश्वर प्रकृति में से ही

भिन्न भिन्न वस्तुओं को रूप देता है जो कि उपादान कारण है। माधव सांख्य की प्रकृति को स्वीकार करते हैं। महत्, अहंकार, बुद्धि, मन, दस इन्द्रियाँ, पाँच विषय तथा पाँच भूत ये २४ प्रकृति के विकार हैं। प्रकृति के तीनों रूपों पर लक्ष्मी के तीनों रूप शासन करते हैं, श्री, भू और दुर्गा। अविद्या प्रकृति का एक प्रकार है जो दो तरह की होती है। एक तो वह जो जीव की आध्यात्मिक शक्तियों पर आवरण डाल देती है जिसे 'जीवाच्छादिका' कहते हैं। दूसरी वह जो जीव से ईश्वर के दर्शन को दूर रखती है, 'उसे परमाच्छादिका' कहते हैं। माधव शुद्धद्वैतवादी हैं, क्योंकि वे जगत को माया नहीं मानते। वैसे जीव परतन्त्र है, क्योंकि ईश्वर की सहायता के बिना उसकी कोई सत्ता नहीं है। लक्ष्मी भी परतन्त्र है। वैसे वह प्रकृति पर शासन करती ह जो कि जगत का उपादान कारण है। ईश्वर किसी तरह प्रकृति में शक्ति डालता है जो उसका अंश नहीं है और प्रकृति किसी तरह ईश्वर के वश में रहती है। माधव 'तत्त्वमसि' से ईश्वर तथा जीव का तादात्म्य नहीं मानते। उनका कहना है कि इश्वर के समान ही जीव में गुण हैं। यही इसका अर्थ है। दूसरे 'स आत्मा तत्त्वमसि' का पदच्छेद वे इस प्रकार करते हैं 'स आत्मा अतत् त्वम् असि'। इसका अर्थ है 'वह आत्मा तू नहीं है'। 'अयं आत्मा ब्रह्म' का अर्थ माधव केवल यही करते हैं यह जीवात्मा की प्रशंसा मात्र है। जगत में एकता तथा क्रम ईश्वर की परम सत्ता के कारण ही हैं।

नैतिकता तथा मोक्ष—ज्ञान होने से ही ईश्वर पर पूर्ण निर्भरता का भाव आता है और उसके लिए प्रेम जागरूक होता है। भौतिक तथा आध्यात्मिक वस्तुओं का ज्ञान ईश्वर-ज्ञान की ओर ले जाता है। इसका परिणाम ईश्वर-प्रेम होता है। मोक्ष के लिए उच्च नैतिक जीवन प्रथम सीढ़ी है। नैतिक नियमों का पालन बिना फल की प्राप्ति की धारणा के करना चाहिए। नैतिक जीवन बिताने से हम सत्य का भेद कर सकते हैं। गुरू के चरणों में बैठकर वेदों का अध्ययन करने से सच्चे ज्ञान की उपलब्धि होती है। शूद्रों तथा स्त्रियों को वेदाध्ययन

करने का अधिकार नहीं है; परन्तु वेदान्त अध्ययन करने का अधिकार सब बुद्धिमानों को है। ईश्वर की महत्ता में जितना अधिक और जितनी गहराई से बैठा जाय उतना ही उत्तम है। इसी अवस्था में जीव को ईश्वर के प्रसाद से ईश्वर की प्रत्यक्ष अनुभूति हो सकती है जिसको माधव ने अपरोक्ष ज्ञान कहा है। जब जीव को यह अनुभूति हो जाती है और वह अनुभूति दृढ़ होती है तब सारे बन्धन टूट जाते हैं और उसको मुक्ति मिल जाती है। ईश्वर को बिना मध्यस्थ के कोई भी नहीं पा सकता। ईश्वर के प्रसाद से ही किसी को मुक्ति मिलती है किसी को नहीं। ईश्वर जीव के गुणों को देखकर मुक्ति नहीं देता। हाँ, माधव यह अवश्य स्वीकार करते हैं कि ईश्वर के प्रसाद का अनुपात हमारी भक्ति की गहराई पर निर्भर है। जब वह हमारी भक्ति से प्रसन्न होता है तभी प्रकट होता है। इस मुक्तावस्था में ईश्वर तथा जीव का तादात्म्य नहीं होता, केवल जीव को ईश्वर की अनुभूति मात्र होती है।

द्वैतवाद में कवियों की वृत्ति इतनी नहीं रमी है जितनी और वादों में। कविगण यत्र-तत्र द्वैत भावनाओं का समर्थन करते हैं। सूर कहते हैं—

चकई री चल चरन सरोवर, जहाँ न प्रेम वियोग।
जहँ भ्रम निशा होत नहिं कबहूँ, वह सागर सुख जोग॥

ऐसे ही कबीर कहते हैं—

धरती गगन पवन नहिं होता, नहिं तोया नहिं तारा।
तब हरि, हरि के जन होते, कहै कबीर विचारा॥

इन दोनों पदांशों में द्वैत-भावना का समर्थन ही है।

रत्नाकर जी की गोपियाँ जब यह कहती हैं तो—

मान्यौ हम, कान्ह ब्रह्म एक ही, कह्यो जो तुम,
तौहूँ हमैं भावति ना भावना अन्यारी की।
जैहै बनि बिगरि बारिधिता बारिधि की,
बूँदता बिलैहै बूँद बिबस बिचारी की॥

× × × ×

काहू तौ जनम में मिलैंगी स्यामसुन्दर कौं,
याहू आस प्रानायाम साँस मैं उड़ावै कौन ।
परि के तिहारी ज्योति ज्वाल की जगाजग में,
फेरि जग जाइबे की जुगति जरावै कौन ॥

वे भी द्वैतवाद का समर्थन करतीं हैं । द्वैतवादी भी भाग्यवादी ही हैं । वे कर्म का भी महत्व मानते हैं। इसी लिए निवृत्ति एक-मात्र उसी ब्रह्म की कृपा पर अवलम्बित है। इसी भावना का समर्थन सूरदास जी नीचे लिखी पंक्तियों में करते हैं—

अब ह्यौं नाच्यो बहुत गुपाल ।
काम क्रोध को पहिर चोलना, कंठ विषय की माल ॥
× × × ×
कोटिक कला काछि देखराई, जल थल सुधि नहिं काल ।
सूरदास की सबै अविद्या, दूरि करौ नन्दलाल ॥

इसमें सालोक्य, सामीप्य अथवा सारूप्य मुक्ति में से किसी एक प्रकार की मुक्ति सम्भव है ।

'चैतन्य महाप्रभु'

चैतन्य सम्प्रदाय का प्रचार अधिकतर बंगाल तथा पूर्वी विहार में हुआ। चैतन्य ने जाति-पाँत का भेद बिल्कुल नहीं माना। उनके अनेक शिष्य मुसलनानों में भी थे। जीव गोस्वामी तथा बलदेव ने चैतन्य सम्प्रदाय को दार्शनिक रूप दिया। यह विचारक मध्व तथा रामानुज से प्रभावित हैं।

परम तत्व—ईश्वर—परम तत्व विष्णु माना गया है जिसमें सत्, चित् और आनन्द विद्यमान हैं। वह निर्गुण इस रूप में हैं कि वह प्रकृति के गुणों से मुक्त हैं। वह सगुण हैं, सर्वज्ञ और सर्वान्तर्यामी हैं। वह जगत का उपादान एवं निमित्त कारण दोनों ही हैं। वह अपनी पराशक्ति के कारण तो निमित्त कारण है और अपराशक्ति और अविद्या शक्ति के कारण उपादान कारण है। वह प्रथम रूप में अपरिवर्तनीय हैं और द्वितीय रूप में विकार होते रहते हैं। ईश्वर का विशेष गुण उसका प्रेम और आनन्द की शक्ति है। ईश्वर अनन्त रूप धारण करता है जिसमें से प्रमुख कृष्ण का रूप है जिसका चरमानन्द प्रेम है। कृष्ण की तीन शक्तियाँ हैं, चित्, माया और जीव। चित् से वह अपने गुणों की अभिव्यक्ति करता है। माया से जगत को उत्पन्न करता है और जीव-शक्ति से आत्मा को। चित्-शक्ति का व्यक्त स्वरूप आनन्द-शक्ति 'ह्लादिनी' है जो 'राधिका' (कृष्ण-प्रिया) हैं।

जगत—ईश्वर की शक्ति से ही जगत की उत्पत्ति होती है। वह उसी पर निर्भर है यद्यपि उससे भिन्न है; न तो उसका ईश्वर के साथ तादात्म्य ही है और न बिल्कुल भिन्नता। जगत सत्य है; मिथ्या नहीं

क्योंकि यह ईश्वर से अलग करके जीव को अपनी ओर आकर्षित करता है इसलिए इसको माया कहा जाता है। जो ईश्वर का सेवक था वह माया की शक्ति के कारण माया का दास हो जाता है।

जीव—ईश्वर सर्वान्तर्यामी है और जीव अणु है। जीव और जगत भगवान के विशेषण नहीं हैं बल्कि उनकी शक्ति की अभिव्यक्तियाँ हैं। माया के कारण जीव जगत के बन्धनों में पड़ जाता है और अपनी वास्तविकता को भूल जाता है।

भक्ति, मोक्ष—भक्ति से कर्मों का क्षीण होना सम्भव है। कृष्ण में प्रेम होने से हमें ईश्वर का आभास मिल जाता है। काम और विशुद्ध प्रेम में जमीन आसमान का अन्तर है। भक्ति मोक्ष का द्वार है। गुरू का सत्कार करना इसकी विशेषता है। इसमें जाति-पाँत का भेद नहीं। चाहे कितना भी नीच स्त्री-पुरुष क्यों न हो सब ईश्वर के प्रसाद के भागी हैं। प्रेम ही मुक्ति है, भक्ति ही वास्तविक मोक्ष है। इससे आवागमन का बन्धन छूट जाता है और आत्मा ईश्वर के समान हो जाती है यद्यपि उसका उसमें विलय नहीं होता। ज्ञान की अपेक्षा भक्ति श्रेष्ठ है क्योंकि भक्ति के बिना भगवान नहीं मिल सकते।

विशुद्धाद्वैतवाद (पुष्टिमार्ग)-(वल्लभाचार्य)

वल्लभाचार्य का सम्प्रदाय ब्रह्मवाद और पुष्टिमार्ग के नाम से प्रसिद्ध है। वल्लभाचार्य शुद्धाद्वैतवादी भी कहे जाते हैं। उनका आदि स्थान दक्षिण कहा जाता है, परन्तु उनका कार्य-क्षेत्र उत्तर भारत ही रहा है।

वल्लभाचार्य का ब्रह्म—एक ब्रह्म ही तत्वपदार्थ है और श्रुति ही उसके सम्बन्ध में प्रमाण है। ब्रह्म निर्गुण नहीं है, सगुण है। श्रुति का ब्रह्म को निर्गुण कहना यह अर्थ रखता है कि वह सत, रज, तम आदि से रहित है; ईश्वर को उन्होंने कृष्ण नाम से पुकारा है। ईश्वर ही सृष्टिकर्ता है। भक्तों पर अनुग्रह करने के लिए वह अवतार लेता है। ईश्वर सत्, चित् और आनन्द-स्वरूप है। यद्यपि उसको शरीर की आवश्यकता नहीं है, परन्तु फिर भी वह अपने भक्तों को प्रसन्न करने के लिए अवतार लेता है। वह केवल कर्त्ता ही नहीं, भोक्ता भी है। भगवान अपनी शक्ति से ही जगत की सृष्टि और प्रलय करते हैं। परम-ब्रह्म विरुद्ध धर्मों का आश्रय-रूप है। वे अणु से भी अणु हैं तथा महान् से महान् है, अदृश्य भी है तथापि दृश्य भी है।

अविगत गति कछु कहत न आवै।
ज्यों गूँगे मीठे फल कौ रस अंतरगत ही भावै॥
परम स्वाद सबही जू निरंतर अमित तोष उपजावै।
मनवानी कों अगम-अगोचर, सो जानै जो पावै॥
रूप, रेख, गुण, जाति जुगति बिनु निरालंब मन चकृत धावै।
'सब विधि अगम' बिचारहिं तातें 'सूर' 'सगुण लीला पद गावै'॥

पद में पर-ब्रह्म का निर्गुण-सगुणत्व स्पष्ट है। सूर कहते हैं उस

पर-ब्रह्म की लीला अपरम्पार है। वह मन तथा वाणी से परे है। आगे यही पर-ब्रह्म कृष्ण के रूप में चित्रित किए गए हैं।

'कृष्ण-भक्ति करि कृष्णहिं पावै।
'कृष्णहिं तें यह जगत प्रगट है 'हरि' में लय ह्वै जावै।
यह दृढ़-ज्ञान होय जासों ही हरिलीला जग देखै।
तौ तिहिं सुख-दुख निकट न आवैं, 'ब्रह्म' रूप करि लेखै॥'

इसी प्रकार नंददास कहते हैं कि ब्रह्म सगुण होते हुए भी निर्गुण है और निर्गुण होते हुए भी सगुण है—

परमातम पर-ब्रह्म सबन के अन्तरजामी।
नाराइन भगवान धरम करि सबके स्वामी॥

नीचे लिखे पद से पर-विरुद्ध धर्माश्रयत्व स्पष्ट हो रहा है—

करुनानिधि तेरी गति लखि न परै।
धर्म-अधर्म, निषेध-अविधहिं, करन-अकरनहिं करै॥
जय अरु विजय अकर्म कियौ कहँ ब्रह्म-साप दिवायौ।
असुर योनि दीनीं ता ऊपर धर्म-उच्छेद करायौ॥

ब्रह्म की अद्वैतता का निरूपण—

"पहले हौं ही हौं एक।
'अमल, अकल, अज भेद, विवर्जित' सुनि विधि विमल विवेक।"

× × × ×

इस प्रकार हम देखते हैं कि सूरदास आदि कवियों ने ब्रह्म का निरूपण वल्लभाचार्य के 'ब्रह्म' के अनुरूप ही किया है।

ब्रह्म स्वयं ही कर्त्ता और स्वयं ही कार्य है। परम तत्व एक ही है पर वह नाना रूपों में दिखाई देता है—

एक छवि के असंख्य उडुगन,
एक ही सब में स्पन्दन।
एक छवि के विभाव में लीन,
एक विधि के आधीन॥

—'पन्त'

इसी भाव को प्रसाद जी ने इस प्रकार प्रकट किया है—

नीचे जल था ऊपर हिम था,
एक तरल था एक सघन।
एक तत्व की ही प्रधानता,
कहो उसे जड़ या चेतन॥

—कामायनी

महादेवी वर्मा भी बीन के रूपक द्वारा यही विशुद्ध अद्वैत भावना व्यक्त करती हैं—

तुम्हारी बीन ही में बज रहे हैं बेसुरे सब तार।
मेरी स्वाँस में आरोह,
कर अवरोह का संचार।
प्राणों में रही घिर घूमती चिर मूर्च्छना सुकुमार।
चितवन ज्वलित दीपक गान,
दृग में सजल मेघ मलार।
अभिनव मधुर उज्ज्वल स्वप्न, शतशत राग के शृङ्गार।

वल्लभाचार्य का जगत—वल्लभाचार्य का जगत शंकर के जगत की भाँति मिथ्या नहीं है वरन् उनका जगत सत्य है। वल्लभाचार्य शंकर के मायावाद का समर्थन नहीं करते हैं। जगत पर-ब्रह्म का भौतिक स्वरूप है। ब्रह्म ही अपने सत् धम से अट्ठाईस तत्व-रूप होकर जगत-स्वरूप हुए हैं, अतः शुद्धाद्वैत सिद्धान्त के अनुसार समस्त जगत ही ब्रह्म-स्वरूप है। अतः यह ब्रह्म के समान सत्य है। ब्रह्म का यह इच्छा करना कि "एकोऽहं बहुस्याम" अर्थात् मैं एक से बहु हो जाऊँ ही जगत और जीव की अभिव्यक्ति का कारण है। अपने को अभिव्यक्त करना ब्रह्म का स्वभाव है। जगत ब्रह्म का विशेषण नहीं, पर यह उसका अंश है। जैसे अग्नि से चिनगारियाँ निकलती हैं वैसे ही ब्रह्म से चित् और अचित्, जीव और जगत उत्पन्न होते हैं। ब्रह्म ही जगत का उपादान और निमित्त कारण है। वल्लभाचार्य के अनुसार माया ईश्वर की एक शक्ति है। प्रलय के समय जगत का तिरोभाव होता है,

नाश नहीं। जिस प्रकार घट के भीतर का आकाश घट के टूट जाने से वृहत् आकाश में समा जाता है उसी प्रकार जगत प्रलय के समय में अपने मूल तत्व में समा जाता है। पर वल्लभाचार्य के अनुसार जगत और संसार दो अलग-अलग तत्व हैं। उनका ससार जीव की अविद्या से माना हुआ 'मैं' और 'मेरेपने' की कल्पना-मात्र है; अतः मिथ्या है।

खेलत खेलत चित्त में आई सृष्टि करन विस्तार।
अपुन आपु करि प्रकट कियौ है हरि "पुरुष अवतार"॥
कीने तत्व प्रगट तेहि छन सवै "अष्ट अरु बीस"।

उपरोक्त पद में ब्रह्म को खेल में एक से अनेक होने की उचंग उठी और अपना विस्तार देखने के हेतु अट्ठाईस तत्वों को उत्पन्न किया। आगे कवि फिर भी ऐसा ही कहता है—

"आदि निरंजन निराकार" कोउ हतौ न दूसर।
रचों सृष्टि विस्तार "भई इच्छा" इह औसर॥

यह जगत सत्य है, ऐसा वल्लभाचार्य ने बताया है—

"जग प्रपच हरि रूप लहैं जब दोष भाव मिटि जाही।
'सूरदास' तब कृष्ण रूप ह्वै हरि हिय में रहे आही॥"

यह तो बताया ही जा चुका है कि वल्लभाचार्य माया को शंकर की भाँति ब्रह्म को अभिभूत करने वाली नहीं मानते, परन्तु वे उसको ब्रह्म की दासी समझते हैं। जगत सत्य होते हुए भी मिथ्या केवल वैराग्य-सिद्धि के अर्थ में ही कहा गया है। यह निम्न पद से प्रकट हो जाता है—

हरि इच्छा करि जगत प्रगटायौ।
अरु यह जगत जदपि हरि रूप है 'तउ माया कृत जानि'।
तातें मन निकारि सब ठाँ ते 'एक कृष्ण मन आनि'॥

वल्लभ ने संसार और जगत में अन्तर किया है। वे संसार को निःसार और मिथ्या बताते हैं।

अरे मन मूरख जनम गँवायौ ।
"यह संसार सुआ सेंमर ज्यों" सुन्दर देखि लुभ्यायौ ॥
चाखन लाग्यौ रुई उड़ि गई "हाथ कछू नहीं आयौ" ।

जीव—जीव अणु है। अविद्या के कारण जीव बन्धन में पड़ा हुआ है। जीव में आनन्द का तिरोभाव रहता है। यह ब्रह्म का ही एक अंश है। जीव तीन तरह के होते हैं—एक तो शुद्ध जीव, जिनमें अविद्या के कारण ऐश्वर्य का तिरोभाव नहीं होता; दूसरे, संसारी जो अविद्या के दलदल में फँसे हुए हैं और जिनका शरीर से सम्बन्ध रखकर आवागमन होता रहता है; तीसरे, मुक्त जो इस सत्यता का भान होने से संसार के बन्धनों से छुटकारा पा जाते हैं। जब जीव को मुक्ति प्राप्त होती है, तब वह ब्रह्म में विलीन हो जाता है।

शुद्ध अवस्था वाले जीव—

जहाँ वृन्दाबन आदि अजर जहँ कुंज-लता विस्तार ।
सारस-हंस-चकोर-मोर खग कूजत कोकिल कीर ।
गोपिन मंडल मध्य विराजत निस-दिन करत बिहार ।
'सहस रूप बहुरूप रूप पुनि एक रूप पुनि दोय' ॥

संसारी जीव का वर्णन—

अपुनपौ आपुनहिं विसरयौ ।
जैसे स्वान काँच मन्दिर में भ्रमि-भ्रमि-मरयौ ॥
ज्यों सपने में रंक भूप भयौ तस्कर अरि पकरयौ ।
ज्यों केहरि प्रतिबिम्ब देखि कै आपनु कूप मरयौ ॥
जैसे गज लखि फटिक सिला में दसननि आय अरयौ ।
मरकट मूठि छाँड़ि नहीं दीनीं घर-घर द्वार फिरयौ ।
'सूरदास' नलिनी कौ सूआ कहि कौने जकरयौ ॥

इस पद में जीव माया से ग्रसित हुआ, अपने सत्य-स्वरूप को भूल गया। जैसे कुत्ता अपनी ही परछाईं को वास्तविक कुत्ता समझकर भूँकता है उसी प्रकार जीव भी 'मैं' और 'मेरेपने' के मिथ्या संसार में फँसकर अपने नाशवान शरीर को ही आत्मा समझकर दुख में फँस

जाता है। यह जीव का स्वयं का ही दोष है। इस पद को आधार मानकर सूरदास पर प्रतिविम्बवाद का प्रभाव माना है; परन्तु इस पद से स्पष्ट है कि यह शुद्धाद्वैत सिद्धान्त पर ही आश्रित है।

जीव नित्य भी है—

तनु मिथ्या छन-भंगुर जानौं। चेतन जीव सदा थिर मानौं॥
जीवकौ सुख दुख तनु संग होई। जोर विजोर तन के संग सोई॥
देह अभिमानी जीवहिं जानें। ज्ञानी जीव अलिप्त करि मानें॥

अब मुक्तावस्था वाले जीवों का वर्णन देखिए—

अपुनपौ आपुन ही में पायौ।
सब्द ही सब्द भयौ उजियारौ सतगुरू भेद बतायौ॥
ज्यों कुरंग नाभी कस्तूरी ढूँढ़त फिरत भुलायौ।
फिर चेत्यौ जब चेतन ह्वै करि आपुन ही तनु छायौ॥

मोक्ष—मुक्ति का अर्थ भगवान के साथ रहकर उनकी लीलाओं का आनन्द लेना है। भक्ति मोक्ष का मुख्य साधन है और ज्ञान गौण साधन है। शरीर को कष्ट देने से कोई लाभ नहीं, क्योंकि शरीर भगवान का मन्दिर है। ब्रह्म का ज्ञान होने पर भी कर्मों का नाश नहीं होता। मुक्तों को भी अपने कर्म करने पड़ते हैं। हमारा मुख्य ध्येय मुक्ति या मोक्ष को प्राप्त करना नहीं है वरन् भगवान की लीलाओं का आनन्द प्राप्त करना है। वल्लभाचार्य ने प्राणियों के निष्काम भाव से ईश्वर-भक्ति करने की बात पर अधिक आग्रह किया है।

वल्लभाचार्य ने ब्रह्म तथा जीव के सम्बन्ध को क्रमशः अंश (Whole) तथा अंशी (Part) के रूप में माना है अर्थात् जीव की उत्पत्ति ब्रह्म से ही होती है। 'तत्त्वमसि' अर्थात् 'वह तू है'। जिस समय जीव परमानन्द स्वरूप ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है उस समय जीव एवं ब्रह्म का भेद-भाव अदृश्य हो जाता है। इस जीव और ब्रह्म की एकाकारिता को रामानुजाचार्य नहीं मानते।

ये तु ज्ञानैक संनिष्ठा स्तेषां लय एव हि,
भक्तानामेव भवति लीलास्वादः अतिदुर्लभः।
(शुद्धाद्वैत-मार्तण्ड)

अर्थात् जो केवल ज्ञानी है उनका भगवान में लय हो जाता है। अपने व्यक्तित्व को बनाए रखकर भगवान की लीलाओं का आस्वाद भक्तों के लिए ही है।

पुष्टिमार्ग—वल्लभाचार्य ने वेदान्त में शुद्धाद्वैत चलाया तो भक्ति-मार्ग में एक अत्यन्त प्रेमोपासक सम्प्रदाय, जिसे 'पुष्टिमार्ग' कहते हैं। विशुद्ध-प्रेम को ही पुष्टि कहते हैं। आचार्य शुक्ल ने अनुग्रह को पुष्टि कहा है। श्रीकृष्ण की साक्षात कृपा प्राप्त करने के लिए ही आचार्य जी ने इस प्रेम को अपनाया जिससे जीव सरलता से कृष्णासक्त होकर इस संसार से मुक्त हो जाँय। इसलिए गोपियों की प्रेम-भावना वाली सेवा को ही उन्होंने लिया है। ब्रज में तीन प्रकार के गोपीजन हैं—(१) गोपांगना, (२) कुमारिकाएँ, (३) ब्रजांगनाएँ। इन तीनों में 'गोपांगनाओं' ने लोक के भय से मुक्त होकर और सब धर्मों का त्याग करके शुद्ध-प्रेम से श्रीकृष्ण का साक्षात् भजन किया है। यह परकीय भावना वाला प्रेम है और इसी को श्रेष्ठतम माना गया है। इसे 'पुष्टि-पुष्ट' कहते हैं। कुमारिकाओं ने मर्यादा में रहकर परोक्ष-रूप से व्रत आदि करके श्रीकृष्ण का भजन किया है, इसलिए यह 'पुष्टि-मर्यादा' है। इसमें स्वकीय स्त्री भावना की प्रधानता रहती है। ब्रजांग-नाओं ने श्रीकृष्ण का बाल भाव से भजन किया है इसलिए इसे 'पुष्टि प्रवाह' कहते हैं। एक चतुर्थ अवस्था और भी है जिसे 'सख्य-भाव' कहा जाता है।

इन भावना साधनों से जिस विशुद्ध प्रेमरूप शुद्ध पुष्टि की प्राप्ति होती है, उसे वल्लभाचार्य ने स्वाधीना अर्थात् स्वतन्त्र-भक्ति कहा है। उनका मत है कि जब तक कृष्ण की आधीनता रहती है तब तक मर्यादा है, और स्वाधीन अवस्था को 'पुष्टि' कहते हैं। गोपियों में

राधा प्रमुख थीं। सूर ने राधा तथा कृष्ण का धूम-धाम से विवाह कराया है। अन्य गोपियाँ भी व्रतादि करके श्रीकृष्ण के साथ स्वकीया की भाँति रास में सम्मिलित होतीं हैं। सूर ने स्वकीया के संयोग और वियोग दोनों पक्षों को चित्रित किया है।

संयोग—

नवल निकुंज, नवल नवलामिलि, नवल निकेतनि रूचिर बनाए।
विलसत विपिन विलास विविध वर, वारिज वदन विकच सचु पाए।

× × × ×

सूर सखी राधा माधव मिलि क्रीड़त हैं, रतिपतिहिं लजाए॥

वियोग—

बिन गुपाल बैरनि भईं कुंजै।
तब यह लता लगति अति सीतल, अब भई विषम ज्वाल की पुंजैं॥

× × × ×

ऐ ऊधौ, कहियो माधव सों विरह कदन करि मारत लुंजैं।
सूरदास प्रभु को मग जोवत, अँखियाँ भईं बरन ज्यों गुंजैं॥

यह उपरोक्त पद स्वकीया भाव से श्रीकृष्ण में भक्ति को प्रकट करते हैं। इसमें मर्यादा है पर जिन गोपीजनों ने लौकिक तथा वैदिक सभी मर्यादाओं का उलंघन करके सब कर्मफलों की इच्छाओं का त्याग करके भगवान से परकीया रूप में प्रेम किया। उसे देखिए—

मेरो मन गोपाल हर्‌यो री।
चितवत ही हरि पैठि नैन मग ना जानों धौं कहा कर्‌यौ री॥
मात पिता, पति-बंधु, सजन जन, सखि, आँगन सब भवन भर्‌यौ री।
लोक वेद प्रतिहार पहरुआ तिनहूँ पै राख्यो न पर्‌यौ री॥
धर्म धोर कुल कानि कुंची करि तेहि तारौ दै दूरि धर्‌यौ री।
पुलक कपाट कठिन उर अन्तर इतेहु जतन कछु वैन सर्‌यौ री॥
बुधि विवेक बल सहित सच्यौ पचि सुघन अटल कबहूँ न टर्‌यौ री।
लियौं चुराइ चितै चित सजनी सूर सो मो मन जात जर्‌यौ री॥

इस पद में गोपांगना के पति देव भी आँगन में बैठे हैं, माता-पिता आदि भी उपस्थित हैं, फिर भी श्रीकृष्ण ने गोपांगना के मन को चुरा ही लिया। परकीया का प्रेम लौकिक पतिदेव से हटकर परमदेव में हो गया, इसी में लोक, वेद और कुल की मर्यादा समाप्त हो गई। आगे फिर कहते हैं।

नन्द के द्वार नन्द गेह पूछति।
इतहिं ते जाति उतहिं ते फिरति निकट है जाति नहिं नैक सूझति॥
भई 'बेहाल' ब्रजबाल नन्दलाल हित अरपित तन-मन सबै तिन्हें दीनों।
'लोक लज्जा तजि' लाज देखति भजि स्याम को भजि कुछ डर न कीनों॥
भूलि गयो नाम दधि को कहति स्याम यों नाहिं सूधि धाम कुछ है कि नाहिं
'सूर' प्रभु कों मिली मेटि भली अनभली चुन हरदी रली देह छाहीं॥

इन पदों से प्रकट है कि परकीया का प्रेम ही विशुद्ध प्रेम है, पर लोक में परकीया प्रेम अच्छा नहीं समझा जाता। परकीया प्रेम को श्रेष्ठतम मानने का कारण यह है कि जिस वस्तु पर मनुष्य का अधिकार होता है उससे मनुष्य का मन चन्द्रमा के घटने की भाँति ऊबने लगता है और प्रेम घटने लगता है। इसीलिए तुलसीदास कहते हैं—

'चातक तुलसी के मते, स्वाँतहु पियौ न पानि।
प्रेम तृखा बाढति भली, घटै घटेगी आनि॥

अतः जिस चीज को हम पा नहीं सकते उसकी प्राप्ति के लिए हम सतत उद्योग करते हैं। उसकी ओर हमारा प्रेम और चाह बढ़ती जाती है। यदि वह प्रेम-विन्दु अलभ्य हो जाता है तो बाह्य वासना-जनित प्रेम भी धीरे-धीरे लुप्त हो जाता है और केवल शुद्ध प्रेम बच जाता है। इसीलिए परकीया प्रेम को भक्तों में श्रेष्ठ माना गया है। उसके प्रेम में सच्ची लगन होती है। तीसरे प्रकार का प्रेम ब्रजांगनाओं का प्रेम है। इसमें वात्सल्य की भावना प्रधान है। इसका उदाहरण है माता यशोदा का प्रेम—

जसोदा हरि पालने झुलावै ।
हलरावै दुलरावै मल्हावै, जोइ सोइ कछु गावै ॥
मेरे लाल कौं आउ निंदरिया, काहे न आनि सुवावै ।
× × × ×
जो सुख 'सूर' अमर मुनि दुर्लभ, सो नंद-भामिनि पावै ॥
फिर
सिखवति चलन जसोदा मैया ।
अरबराइ कर पानि गहावत, डगमगाइ धरनी धर पैयाँ ॥
कबहुँक सुन्दर बदन विलोकति, उर आनन्द भरि लेति बलैयाँ ।
× × × ×

इस प्रकार के अनेकों पद हैं जिनसे सूर आदि अष्टछाप के कवियों ने इस बाल-भाव के प्रेम का बड़ा ही सुन्दर प्रेम-निरूपण किया है। यह लोक और काल की सीमाओं को भी लाँघ गया है।

इसके अतिरिक्त सख्य-भाव का प्रेम चित्रित किया गया है। कृष्ण अपने सखाओं से झगड़ते हैं और उस समय का झगड़ना देखने योग्य है—

'खेलत में को काको गुसैयाँ ।
हरि हारे, जीते श्रीदामा, बरबस ही कत कर रिसैयाँ ॥
जाँति पाँति हमतें कछु नाँहि, न बसत तुम्हारी छैयाँ ।
अति अधिकार जनावत यातें अधिक तुम्हारे हैं कछु गैयाँ ॥

फिर देखिए—

सखा कहत है स्याम खिसाने ।
आपुहिं आप ललक भए ठाढ़े अब तुम कहा रिसाने ॥
बीचहिं बोल उठे हलधर तब इनके माय न बाप ।
हार जीत कछु नैंक न जानत, लरिकन लावत पाप ॥

श्याम अपने मित्रों के साथ खेल रहे हैं अर्थात् अंशी अपने अंशों के साथ खेल रहा है। बलराम का व्यंग है कि श्रीकृष्ण हार-जीत क्या जानें इनके माँ-बाप तो हैं नहीं। तो प्रभु का न कोई माता है न पिता

और वह हार-जीत से भी परे हैं। वे अत्यन्त उच्च हैं। खेल में, लीला में, जीव उनके निकट ही रहता है। प्रभु के साथ रमण करने पर उसमें आनन्दांश भी आ जाता है, अतः जाति में, जीव और ब्रह्म में किसी प्रकार का अन्तर नहीं है। जीव अग्नि की चिनगारी की तरह ब्रह्म का अंश है। प्रभु चिनगारियों के पुंज हैं। यही उनकी गायों की अधिकता है। आनन्द की मात्रा भी जीव में इसीलिए अधिक है। यह सब होते हुए भी जीव प्रभु के सम्मुख हीनता स्वीकार करने के लिए तत्पर नहीं है क्योंकि वह अंश है। इसी प्रकार के स्वाभाविक तथा सरस चित्र और भी मिलते हैं। कृष्ण का चक-डोर घुमाना देखिए—

गोपाल माई खेलत हैं चक-डोर।
लड़का सात पचास संग लीने निपट साँकरी खोर॥

—परमानन्द दास

इस प्रकार सख्य-भाव की भक्ति अष्ट छाप के कवियों में प्रधान रूप से मिलती है। कहीं कहीं दास भाव की भक्ति की झलक भी मिलती हैं पर इन कवियों में तुलसी की भाँति उसकी प्रधानता नहीं।

जैसा पहले बताया गया है कि आचार्य वल्लभ ने लिखा है "कृष्णाधीना तु मर्यादा, स्वधीना पुष्टिरुच्यते"। जब तक कृष्ण की आधीनता रहती है तब तक मर्यादा है, स्वाधीन अवस्था ही शुद्ध पुष्टि कहलाती है। जो ऊपर बताए गए भेदों से ऊपर है इसको हम ब्रह्म भाव की भक्ति भी कहते हैं। पर ऊपर लिखी अवस्थाओं में जो सुख प्राप्त होता है वह अन्यत्र दुर्लभ है। यह भक्ति भक्त को भगवान की लीला में भाग लेने वाला बना देती है। इस मार्ग पर चलने वाला गृहस्थ चाहे गृहस्थी में रहे चाहे विरक्त हो जाए, यदि वह भगवान की सेवा में तन-मन-धन से लगा रहता है, तो एक दिन भगवान के प्रेम का पात्र और उसके लीला धाम में प्रवेश अवश्य पा जायगा। तन्मय अवस्था का भाव नीचे लिखे पद से स्पष्ट हो जायगा।

आँखिन में बसै, जियरे में बसै, हियरे में बसै, निस-दिन प्यारौ ।
मन में बसै, तन में बसै, अंग-अंग में बसत नन्दवारौ ॥
सुधि में बसै, बुधि ही में बसै, उरजन में बसत प्रिय प्रेम दुलारौ ।
सूर स्याम बन हूँ में बसत, घरहू में बसत, संग ज्यों जलतरंग न होत न्यारौ॥

ऊपर दिए गए निरूपण से स्पष्ट है कि सूर आदि अष्टछाप के कवियों ने वल्लभ सम्प्रदाय का पूर्णतः अपने काव्य में निरूपण किया है ।

'तसव्वुफ अथवा सूफी मत'

चन्द्रबली पाँडे जी का कहना है कि 'अरब स्वभावतः अध्यात्म के प्रेमी नहीं थे वरन् उनका ध्यान तत्त्व चिंतन से कहीं अधिक संग्राम पर रहता था ' उन्हें शास्त्र की अपेक्षा तलवार से अधिक मोह था। स्वयं मुहम्मद साहब की सफलता तलवार के बल पर हुई थी। इस्लाम की दीक्षा यह है कि अल्लाह के अतिरिक्त अन्य देवता नहीं हैं, और मुहम्मद उनका दूत है। इस्लाम के दो पक्ष हैं—पहला अल्लाह, दूसरा मुहम्मद। मुहम्मद के दूतत्व से चोदना व आदेश का अर्थ है। इस आदेश के पालन करने की प्रेरणा बाहरी है भीतरी नहीं। इसमें सोचने की गुंजाइश नहीं है बल्कि मानने भर का हक है। किसी आज्ञा के कारण अल्लाह को मानना और देवताओं की सत्ता को न मानना एक बात है और आत्मचिंतन के फलस्वरूप एक परम सत्ता में विश्वास करना दूसरी बात। इसमें प्रथम इस्लाम है दूसरा तसव्वुफ। इस्लाम कहता है कि अल्लाह ही परम तत्व है, और फरिश्ते आदि दूसरी सत्ताएँ भी हो सकती हैं पर वे हमारी पूज्य नहीं। तसव्वुफ का कहना इससे भिन्न है। उसका कहना. कि परमात्मा के अतिरिक्त अन्य कोई सत्ता नहीं है। जो कुछ भी हमें प्रकृति में दिखाई पड़ता है वह ईश्वर का ही स्वरूप है।

सूफियों का ईश्वर—अल्लाह कुरान में एक परम देवता ही है; कुरान के पढ़ने से पता चलता है कि कुरान का 'अल्लाह' सगुण और साकार है। इसी का विकास करके विद्वान सूफियों ने यह प्रमाणित किया कि अल्लाह अन्तर्यामी है और उसका सिंहासन हृदय है। हृदय को स्वच्छ और निर्मल रखने से सदा उसकी परछाईं पड़ती रहती है

और इस प्रकार से लगातार उसके सत् स्वरूप से परिचित होते रहते हैं। अल्लाह के समस्त गुणों को सूफियों ने चार भागों में विभाजित किया—'जात', 'जमाल', 'जलाल' तथा 'कमाल'। इनको हम क्रमशः 'सत्ता', 'माधुर्य', 'ऐश्वर्य', तथा 'अद्भुत' के रूप में देख सकते हैं। सूफियों ने 'जात' और 'कमाल' का बड़ा ही सुन्दर एवं विषद निरूपण किया और 'अनलहक' इसी का परिणाम है। यही 'अनहलक' "मैं ब्रह्म हूँ" है।

पद्मावत में अद्वैतवाद के दर्शन स्थान स्थान पर मिलते हैं। यदि मनुष्य का अहंकार छूट जाय तो इस ज्ञान का उदय हो जाय कि सब कुछ मैं ही हूँ, मुझसे अलग कुछ नहीं है। जायसी कहते हैं—

हौं हौं कहत सबै मति खोई। जौ तू नाहिं आहि सब कोई॥
आपुहि गुरु सो आपुहि चेला। आपुहि सब औ आपु अकेला॥

ऐसे 'अखरावट' में जायसी ने 'मैं ब्रह्म हूँ' की अनुभूति से ही पूर्ण शान्ति प्राप्त होना बताया है।

'सोऽहं सोऽहं' बसि जो करई। सो बूझै, सो धीरज धरई॥

नाम रूप असत्य हैं वे बदलते रहते हैं पर उनकी तह में जो आत्म-सत्ता है वह सत्य है, नित्य है। 'अखरावट' में जायसी कहते हैं—

बिगरि गए सब नावँ, हाथ, पाँव, मुँह, सीस धर।
तोर नाँव केहि ठावँ, मुहम्मद सोइ विचारिए॥

'जायसी' वेदान्तियों की भाँति समुद्र और लहर का दृष्टान्त देते हैं—

सुन्न-समुद चख माहिं जल जैसी लहरैं उठहिं।
उठि उठि मिटि मिटि जाहिं, मुहमद खोज न पाइए॥

वह परम तत्व कण-कण में व्याप्त है, नाम रूपों की तह में है परन्तु नाम रूपों का उस पर कोई प्रभाव नहीं है। वह अविकारी है। जायसी कहते हैं—

"चख महँ नियर, निहारत दूरी। सब घट माहँ रहा भरि पूरी।
पवन न उड़ै, न भीजै पानी। अगिनि जरै जस निरमल बानी॥"

इस प्रकार जायसी ईश्वर के अद्वैतत्व की ओर इंगित करते हैं।

जगत—सूफियों के समक्ष जगत का प्रश्न आया तो है, उन्होंने उपादान और निमित्त कारण पर विचार भी किया है, परन्तु उनकी मीमांसा वेदान्तियों की भाँति स्पष्ट नहीं है। अतः सूफी लोग जगत का वैसा स्पष्टीकरण नहीं कर पाये जैसा वेदान्तियों ने किया। कहा जाता है कि अल्लाह ने आत्म-ज्ञापन के वास्ते सृष्टि की रचना की। अल्लाह की शक्ति अपरमित है। उसके 'कुन' में सारी शक्ति समाई हुई है। वह इसके आधार पर ही इसकी रचना कर सकता है। यह सृष्टि उसके पुण्य का ही प्रसार है। सूफियों ने सृष्टि को स्वप्नवत् माना है। अरबी का कहना है सृष्टि स्वतन्त्र तो नहीं है पर नित्य तो अवश्य है। जामी का मत है कि प्रेम से प्रभावित होकर अल्लाह ने अपने मुख का आदर्श लिया और उसमें अपना रूप स्वयं व्यक्त करने लगा। नाम-रूपात्मक जगत ब्रह्म का प्रतिबिम्ब है।

जायसी ने इसी प्रतिबिम्ब की झलक अपने 'पद्मावत' में दर्पण में अलाउद्दीन को पद्मिनी दर्शन कराके, दिखाई है।

'देखि एक कौतुक हौं रहा। रहा अँतरपट पै नहिं अहा॥
सरवर देखि एक मैं सोई। रहा पानि औ पान न होई॥
सरग आइ धरती महँ छावा। रहा धरति, पै धरत न आवा॥

जगत की सत्ता सत्य नहीं है, वह तो केवल एक छाया मात्र है—

जब चीन्हा तब और न कोई। तन-मन, जिउ, जीवन सब सोई॥
'हौं' 'हौं' कहत धोख इतराहीं। जब भा सिद्ध कहाँ परछाहीं ?

जीव—अल्लाह ने इंसान को अपना प्रतिरूप बनाया और उसमें अपनी रूह फूँक दी। अरबी का मत है कि अल्लाह ने आत्म-प्रदर्शन के लिए जो संसार रचा वह अन्धा दर्पण था और अल्लाह को उसमें अपने रूप की झलक नहीं दिखाई देती थी। इसलिए उसने 'आदम' को बनाया जो उसी की प्रतिमूर्ति थी। बस अल्लाह ने आदमी में अपनी परछाईं देखी और इसी से इंसान अल्लाह की दृष्टि है और इसीलिए उसका नामकरण 'इंसान' हुआ। तसव्वुफ ने अल्लाह को

'अमा' तक पहुँचा दिया जिसका अर्थ निर्गुण होता है और मुहम्मद साहब सूफियों की दृष्टि में प्रिय, रक्षक, तारक आदि सभी हो गए। वे 'कुत्ब' अर्थात् 'पुरुषोत्तम' हुए। इनका नूर सृष्टि का उपादान कारण हुआ और स्वयं उसके निमित्त कारण। हम कह सकते हैं कि ज्ञानियों की माया भक्तों की शक्ति, और सूफियों के नूर का सृष्टि-व्यापार में एक ही स्थान है। वैसे तो सूफी साहित्य में जीव का भी विवेचन पूरा नहीं है, क्योंकि इस्लाम बड़ा कट्टर धर्म है और उसमें जो कुछ माना गया उसके विरुद्ध कहने का साहस करना अपनी मृत्यु को आमन्त्रित करना था। उनके साहित्य में यह मिलता है कि जीव अल्लाह से पृथक नहीं है और यह भी पूरी तरह मिलता है कि सूफियों ने अद्वैत का ही पक्ष लिया है। इस अद्वैत में वे हमारे यहाँ की तरह शुद्ध-विशिष्ट अथवा द्वैताद्वैत दर्शन की झलक देते रहे, परन्तु इसके बारे में निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता। हाँ, यह ठीक है कि अद्वैत भावना उनमें हर जगह पाई जाती है। उनमें हमें कहीं खुलकर यह कहने का साहस नहीं मिलता कि "सत्यं ब्रह्म जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैवनापर:"।

शैतान—मनुष्य को सुख, दुःख, पाप, पुण्य क्यों भोगने पड़ते हैं? इसका उत्तर इस्लाम 'शैतान' की कल्पना करके देता है और सूफी 'नियति' को ही मनुष्य के भ्रष्ट होने का कारण मानते हैं। वे 'इबलीस' को 'इंसान' के बिगड़ने का कारण नहीं मानते। उनका 'इबलीस' इस्लाम का शैतान नहीं है वरन् पुराणों का 'नारद' है जो अल्लाह का परम भक्त है। वह अल्लाह की आज्ञा मानने को भी कोई महत्व नहीं देता, परन्तु उसकी उपासना के लिए शाश्वत कष्ट सहने को तैयार रहता है। यदि 'इबलीस' न होता तो अच्छे बुरे का प्रश्न ही नहीं उठता। सूफी पाप को शाश्वत नहीं समझते।

कल्ब—सूफी मत में 'कल्ब' की बड़ी महिमा है। सूफी उसको अभौतिक मानते हैं परन्तु वह वास्तव में भौतिक है। कल्ब उपनिषदों

का हृदय ही है। सूफी 'कल्ब' में अल्लाह को धारण करते हैं। सिर्र, को सूफी इंसान में अल्लाह की धरोहर मानते हैं। उसको ईश्वरीय और शाश्वत मानते हैं। उसका विनाश नहीं होता। पाँडे जी. सिर्र को बाह्य सत्व और अभ्यन्तर अनभूति कहते हैं। वैराग्य से जब सत्व शुद्ध हो जाता है तो उसमें परमात्मा की अनुभूति होती है। इसी को सूफी लोग प्रियतम का 'दीदार' कहते हैं।

नफ़्स—यह सूफियों की वासना या चित्तवृत्ति मालूम होती है। सूफी नफ़्स का विरोध करने के लिए साधना करते हैं। विरह में तड़प कर बार-बार मरना इसी नफ़्स का मरना होता है। यदि नफ़्स की चलती तो इन्सान संसार में फँसा रहता, मजा करता और अल्लाह का नाम भी न लेता; परन्तु इसी नफ़्स में अलौकिक शक्ति है जिसे सूफी 'रूह' कहते हैं। 'रूह' को हम आत्मा कह सकते हैं। 'रूह' का प्रेम अल्लाह से होता है और 'नफ़्स' का प्रेम शैतान से होता है। हमारी रूह हमेशा परम रूह के दीदार के लिए तड़पती रहती है।

मुक्ति—सूफो 'खुदी' को नहीं सह सकते। सूफी कहते हैं 'खुदी' को दूर करो तुम 'खुदा' हो। 'नफ़्स' के चक्कर में मत पड़ो, 'कल्ब' की सुनो। सूफो सब कुछ उसका प्रतिबिम्ब समझता है। सूफी उसी सौन्दर्य की झलक पर मुग्ध होकर उसके मूल पर निछावर हो जाना चाहता है; इसलिए हम सूफियों को प्रतिबिम्बवादी कह सकते हैं। 'आदम' अल्लाह का प्रतिबिम्ब है, सृष्टि दर्पण है। इन्सान अल्लाह से तभी तक अलग रहता है जब तक वह सृष्टि के दर्पण में अपना रूप देखता है। जैसे ही इन्सान की इच्छा का लोप हो जाता है इंसान का रूप मिट जाता है और वह 'वही' हो जाता है। यही 'अनलहक' है और यही 'अहं ब्रह्मास्मि' है। "सूफी इसी महामिलन के भूखे हैं और रात-दिन प्रियतम के रोम-रोम में समा जाने के लिए आकुल हो कर तड़पा करते हैं। वे कभी भी अल्लाह को अपने से भिन्न नहीं देख सकते। सदा उसी का और उसी में होकर रहना चाहते हैं; कुछ उससे छिटक कर दूर रहना नहीं।" सूफी अपने प्रियतम की याद में मस्त हो

जाते हैं और वे इतने ध्यान मग्न हो जाते हैं कि उन्हें अपनी सुध तक नहीं रहती। इसी को 'हाल' आना कहते हैं। 'हाल' की अवस्था में ही उनका उनके प्रियतम से साक्षात्कार होता है। इसी अवस्था में जो महामिलन होता है उसी को सूफी मरण कहते हैं जिसका वर्णन करते वह अघाते नहीं। यही अवस्था उनके प्रियतम का बुलावा है, यही मुक्ति अथवा मोक्ष है। यही उनके उपासना-क्षेत्र का परम अन्त है।

रहस्यवाद

'रहस्यवाद' एक ऐसा विषय है जिस पर बहुत कुछ लिखा जा चुका है, तथा बड़े-बड़े विद्वानों में इस विषय पर मतभेद है। पर साहित्य में इस 'वाद' का इतना प्रचार है कि इस पर कोई आलोचक न तो लिखे बिना रह सकता है और न अपने विचार व्यक्त किए बिना।

'रहस्य' शब्द हमारे मस्तिष्क में किसी 'गुह्य', 'छिपी', 'आसानी से समझ में न आने वाली' बात का आभास देता है। जब हम किसी से कहते हैं कि 'इस बात में क्या रहस्य है' तो हमारे मन में किसी बात को सही सही समझने, भेद जानने की तीव्र उत्कंठा रहती है। यदि हम किसी की ओर से विरक्त रहना चाहते हैं, तो उसकी बातों को जानने की उत्कंठा हमें नहीं होती। पर यदि हम किसी की बात को समझना चाहते हैं तो झगड़ा हो जाने पर भी उस दूसरे की बात को जानने की उत्कट इच्छा बनी रहती है और उसको जाने बिना हमारे हृदय को शान्ति नहीं मिलती।

इसी भाव को सामने रखकर इस 'वाद' का—जैसा इसका नाम प्रकट करता है—जन्म हुआ। जब उपनिषद्-रचयिता ऋषियों को अपने सरल विचारों में उस असीम और अनन्त का बोध दुर्गम-सा लगा तब उनके कौतूहल और जिज्ञासा-पूर्ण मस्तिष्क ने रहस्यवाद की सृष्टि की। यही भावना उपनिषदों की रहस्यात्मक भाषा का मूल है। ईशोपनिषद् कहता है, "वह ब्रह्म चलता है, वह नहीं चलता; वह दूर है, वह पास भी है; वह सबके अन्दर है, वह सबके बाहर है।" कारण

यह है कि ससीम भाषा असीम का वर्णन कैसे करे? उस अनन्त सौंदर्य, अनन्त प्रेम तथा अपार आनन्द को वाणी प्रकट करने में असमर्थ है। यह प्रेम, यह उल्लास जो प्रिय को देखने और आत्मसात् करने का प्रयत्न है, वह सीमित वाणी कैसे व्यक्त करे? तभी तो यमाचार्य कहते हैं—

आसीनो दूरं व्रजति शयानो याति सर्वतः
कस्तं मदामदं देवं मदन्यो ज्ञातु महति।

"बैठा हुआ वह दूर चला जाता है, सोता हुआ वह सर्वत्र पहुँच जाता है, उस हर्ष और शोक सहित विरुद्ध धर्म वाले देवता को मेरे सिवाय कौन जान सकता है?" मुण्डकोपनिषद् कहता है—

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्॥

'प्रणव को धनुष समझना चाहिए और आत्मा को बाण; ब्रह्म ही लक्ष्य है। प्रमाद हीन होकर इस प्रकार बेधना चाहिए कि आत्मा ब्रह्म में, लक्ष्य में तीर की तरह तन्मय होकर मिल जाय।"

यही 'रहस्यवाद' का मूल है। यही कारण है कि रहस्यवाद अपने में अभारतीय वस्तु नहीं है, वह पूर्णतया भारतीय वस्तु है। उसके रूप को अभारतीय कहना वैसा ही है जैसे अन्तर्राष्ट्रीय (International numerals) अंक-चिन्हों को अभारतीय कहना। भारत से कोई वस्तु बाहर गई और बाहर जाकर जो संगति उसे मिली, उसके योग से मूल रूप अभारतीय नहीं हो सकता। हाँ, बाहर चाहे उसका विकास ठीक रास्ते पर हुआ हो या गलत पर। गलत विकास के कारण पुत्र किसी दूसरे का पुत्र नहीं कहा जा सकता।

पर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल को रहस्यवाद में कोरे 'वाद' के ही दर्शन होते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि उनका आदर्श 'तुलसी' होने के कारण उन्होंने सब साहित्य को उसी मानदंड से मापने का प्रयत्न किया है। उनकी विशाल दृष्टि को तुलसी की भव्यता के आगे सब फीका दिखाई पड़ा है। रहस्यवाद के सम्बन्ध में आचार्य शुक्ल बार-

बार इस प्रकार के विचार व्यक्त करते हुए पाये जाते हैं "ज्ञानातीत (Transcendental) दशा से—चाहे वह कोई दशा हो या न हो—काव्य का कोई सम्बन्ध नहीं है।" "मनोमय कोश ही प्रकृत काव्य-भूमि है, यही हमारा पक्ष है। इसके भीतर की कोई मनमानी योजना खड़ी करके उसे इससे बाहर के किसी तथ्य का—जिसका कुछ ठिकाना नहीं—सूचक बताना हम सच्चे कवि का क्या, सच्चे आदमी का काम नहीं समझते।" "रहस्यवादी पूर्ण गोचर को सामने पाकर अगोचर, अभौतिक आदि की ओर अपना अभिलाष बतलाता है, जो अभिलाष के वास्तव स्वरूप के सर्वथा विरुद्ध है।" "............अपनी दूरारूढ़ रूपयोजना या भावना में वे अगोचर और अव्यक्त सत्ता का साक्षात्कार करते हैं।" इसी प्रकार वह छायावाद के साथ अनर्थ करते हैं। उनका कहना है कि छायावाद पुराने 'प्रतिबिम्बवाद' का दूसरा नाम है। "यह 'प्रतिबिम्बवाद' सूफियों के यहाँ से होता हुआ योरप में गया जहाँ कुछ दिनों पीछे 'प्रतीकवाद' से संश्लिष्ट होकर धीरे-धीरे बंग-साहित्य के एक कोने में आ निकला और नवीनता की धारणा उत्पन्न करने के लिए 'छायावाद' कहा जाने लगा।"

शुक्ल जी का कहना है कि जो रहस्यवाद हमें कबीर, जायसी आदि कवियों में मिलता है वह 'सामी' देन है। वह भारत की वस्तु नहीं। भारत के भक्त कवियों में भी अवतारवाद की धारणा व्यक्त (सगुण) के प्रति चली, अव्यक्त के प्रति नहीं। हाँ, अवतारवाद का मूल रहस्य-भावना अवश्य है। पर हमारे काव्य में रहस्य, अपरोक्ष को स्थान नहीं मिला। शुक्ल जी इस बात को बार-बार कहते हैं। "अव्यक्त ब्रह्म की जिज्ञासा और व्यक्त, सगुण ईश्वर या भगवान के सान्निध्य का अभिलाष, यही भारतीय पद्धति है। अव्यक्त, अभौतिक और अज्ञात का अभिलाष यह बिल्कुल विदेशी कल्पना है और मज़हबी रुकावटों के कारण पैगम्बरी मत मानने वाले देशों में की गई है।" रहस्यवाद को उन्होंने 'कल्पनावाद' तक कहकर पुकारा है और कहा है "यह 'कल्पनावाद' वास्तव में सूफियों के यहाँ से गया है।" रहस्य-

वाद की उत्पत्ति के सम्बन्ध में वे कहते हैं "काव्यगत रहस्यवाद की उत्पत्ति भक्ति की व्यापक व्यंजना के लिए ही फारस, अरब तथा योरप में हुई जहाँ पैगम्बरी मतों के कारण मनुष्य का हृदय बँधा-बँधा ऊब रहा था।" "भक्तिकाव्य में रहस्यवाद की उत्पत्ति के धार्मिक और सामाजिक कारण पर जो विचार करेगा उसे यह लक्षित हो जायगा कि यह सब द्राविड़ी प्राणायाम मजहबी तहजीब, धार्मिक शिष्टता (Religious Courtesy) के अनुरोध से करना पड़ा।" आगे वे फिर कहते हैं "भारतीय भक्ति काव्य को 'रहस्यवाद' का आधार लेकर नहीं चलना पड़ा। यहाँ के भक्त अपने हृदय से उठे हुए सच्चे भाव भगवान की प्रत्यक्ष विभूति को बिना किसी संकोच और भय के—बिना प्रतिबिम्बवाद आदि वेदान्ती वादों का सहारा लिए—सीधे अर्पित करते रहे। मुसलमानी अमलदारी में रहस्यवाद को लेकर जो 'निर्गुण-भक्ति' की बानी चली वह बाहर से—अरब और फारस की ओर से—आई थी। वह देशी वेश में एक विदेशी वस्तु थी। इधर अंगरेजों के आने पर ईसाइयों के आन्दोलन के बीच जो ब्रह्मो-समाज बंगाल में स्थापित हुआ उसमें भी 'पौत्तलिकता' (Idolatory) का भय कुछ कम न रहा। अतः उसकी विनय और प्रार्थना जब काव्योन्मुख हुई तब उसमें भी 'रहस्यवाद' का सहारा लिया गया। सारांश यह कि रहस्यवाद एक साम्प्रदायिक वस्तु है; काव्य का कोई सामान्य सिद्धान्त नहीं।"

इसके विपरीत रहस्यवाद को पूर्ण भारतीय मानने वालों में केवल एक नाम ही पर्याप्त होगा। वे थे जयशंकर प्रसाद। उनका कहना है "शुद्ध रहस्यवादी जिस आनन्द और अद्वयता की धारा बहाते रहे हैं, आधुनिक रहस्यवाद उसी धारा का विकास है। यह कोई विदेशी वस्तु नहीं है।" इसी प्रकार के विचार महादेवी वर्मा ने व्यक्त किए हैं। 'छायावाद' को भी केवल 'प्रतिबिम्बवाद' नहीं माना जाता। प्रसाद जी इसको केवल अभिव्यक्ति का एक निराला ढंग मात्र मानते

हैं। श्री नन्ददुलारे वाजपेयी जी कहते हैं "नई छायावादी काव्य धारा का भी एक आध्यात्मिक पक्ष है, परन्तु उसकी मुख्य प्रेरणा धार्मिक न होकर मानवीय और सांस्कृतिक है। उसे हम बीसवीं शताब्दी की वैज्ञानिक और भौतिक प्रगति की प्रतिक्रिया भी कह सकते हैं। भारतीय परम्परागत आध्यात्मिक दर्शन की नवप्रतिष्ठा का वर्तमान अनिश्चित परिस्थितियों में यह एक सक्रिय प्रयत्न है।" इस प्रकार रहस्यवाद और छायावाद पर शुक्ल जी के विचारों का मेल बहुत से आलोचकों से नहीं खाता। यह ठीक भी है।

'रहस्य' का अर्थ ऊपर समझाने का प्रयत्न किया गया था। फिर एक बार 'रहस्यवाद' है क्या, इसके समझाने का प्रयत्न किया जायगा। प्रसाद ने रहस्यवाद के दो मूल तत्व बतलाये हैं—यह ऊपर कहा जा चुका है—आनन्द और अद्वयता। रहस्यवादी काव्य विरहोन्मुख है। यह दुख भी आनन्द की पृष्ठभूमि लेकर आता है। अद्वयता, अभिन्नता की अनुभूति से 'मैं' 'मेरेपने' 'तू' 'तेरेपने' की भावना का लोप हो जाता है। साधक को उस चिन्मय-शक्ति के अतिरिक्त कुछ दिखाई ही नहीं देता। उसके लिए तो सारा जग 'सियाराममय सब जग जानी' हो जाता है। अहं का इदम् से समन्वय होने पर ही सच्ची रहस्य-भूमि की प्रतिष्ठा होती है। जीव, ब्रह्म और प्रकृति की त्रिवेणी रहस्य-भावना में एकाकार हो जाती है।

रहस्यवाद में पाँच प्रमुख तत्व पाये जाते हैं—

१—प्रभु के प्रति जिज्ञासा, कुतूहल अथवा विस्मय की भावना।
२—प्रभु का महत्व और उसकी अनिर्वचनीयता।
३—प्रभु के दर्शन का प्रयत्न।
४—प्रभु के प्रति विभिन्न सम्बन्धों की उद्भावना।
५—प्रभु से एकाकारिता।

भारतीय हृदय में आरम्भ से ही आस्था का बीज रहा है। वेदों में "कस्मै देवाय हविषा विधेम" में इसी जिज्ञासा का बीज है। 'कस्मै

देवाय' शब्दों में रहस्य जानने की ओर संकेत है। यही रहस्य का मूल-मन्त्र है। प्राकृतिक शक्तियों के दोनों रूप हमारे समक्ष आये—१. भय-मिश्रित और (२) आनन्द-मिश्रित। पहले का नाम विस्मय है और दूसरे का कुतूहल। कबीर के नीचे लिखे पद से विस्मय का पता चलता है—

अवधू सो जोगी गुरु मेरा, (जो यहि) पद का करै निबेरा।
तरिवर एक मूल बिनु ठाढ़ा, बिनु फूलै फल लागा।
साखा पत्र किधौ नहिं बाके, अस्ट-गगन-मुख गाजा॥
यौ बिनु पत्र करह बिनु तूँबा, बिनु जिभ्या गुन गावे।
गावनहार के रेख रूप नहिं, सतगुरु होय लखावै॥
पङ्क्षिक खोज मीन को मारग, कहँहि कबीर दोउ भारी।
अपरमपार पार परसोतिम, मूरति की बलिहारी॥

एक मूल-प्रकृति रूप श्रेष्ठ वृक्ष है, वह बिना मूल के खड़ा है, क्योंकि सबका मूल प्रकृति है और प्रकृति का मूल कोई नहीं। उस मूल प्रकृति-रूप-वृक्ष में बिना फूल के विश्वरूपी फल लगा हुआ है, उस विश्व-वृक्ष के शाखा-पत्र कुछ नहीं हैं और वह वृक्ष अष्ट-प्रकृति-रूप से संसार में फैला है। इस शरीर में पौ (अंकुर) के बिना पत्र (द्विदल का कमल) है और करह (डंडी) के बिना एक तुम्बा (मस्तक) लगा हुआ है। अजपाजाप करने वाले योगी, बिना जिह्वा के गुणगान करते हैं। गावनहार (श्वासों) के रूप-रेख कुछ भी नहीं हैं। यदि स्वरोदय के भेदी सद्गुरु मिलें तो सब रहस्य समझा करें। कबीर साहब कहते हैं कि विहंगम-मार्गी और मोन-मार्गी योगियों की लीलाओं का दर्शन मैंने कराया है। यह सब नाना प्रकार के मन के खेल हैं। जिस प्रकार आकाश में उड़ते हुए पक्षी का मार्ग ढूँढ़ निकालना और जल में तैरती हुई मछली का रास्ता निर्धारित करना कठिन है इसी प्रकार विहंगम मार्ग (खेचरी मुद्रा) और मीन-मार्ग (स्वरोदय) में भी भारी उलझन है। जो पुरुष

मन और माया के बन्धनों से रहित है, वही पुरुषोत्तम है। अतः उसकी मूर्ति (स्वरूप) की मैं बलिहारी हूँ।+

जब कुछ-कुछ जान पड़ने लगता है तब कुतूहल जागृत होने लगता है। यथा—

शून्य नभ में उमड़ जब दुख-भार-सी,
नैश तम में सघन छा जाती घटा।
बिखर जाती जुगनुओं की पाँति भी,
जब सुनहले आँसुओं के तार-सी।
तब चमक जो लोचनों को मूँदता,
तड़ित की मुस्कान में वह कौन है?

—महादेवी वर्मा

प्रसाद भी कुतूहल-मिश्रित-जिज्ञासा उस अव्यक्त के प्रति इस प्रकार व्यक्त करते हैं—

हे अनन्त रमणीय कौन तुम?
यह मैं कैसे कह सकता।
कैसे हो? क्या हो? इसका तो
भार विचार न सह सकता।

यह मानव अपने सीमित मस्तिष्क से 'क्या' और 'कौन' का उत्तर देने में असमर्थ है। प्रकृति में जो क्रियाशीलता दिखाई देती है, उसका चालक अवश्य कोई होगा।

'कौन' का उत्तर जैसे-जैसे मिलने लगता है वैसे-वैसे अनुभूति गहरी होती जाती है। साधक उस परोक्ष सत्ता की व्यापकता का अनुभव करने लगता है। उसकी सर्वव्यापकता से उसके महत्व का पता चलता है। महत्व का ज्ञान अभिन्नता का भाव जागृत करता है। कबीर कहते हैं—

+ बीजक टीकाकार बिचारदास।

लाली मेरे लाल की जित देखूँ तित लाल ।
लाली देखन मैं गई मैं भी हो गई लाल ॥

प्रकृति के नाना रूपों में उसी एक की झलक दिख रही है। सारी प्रकृति उसी से ओत-प्रोत है। प्रकृति का भिन्न अस्तित्व ही नहीं। जायसी यही कहते हैं—

बहुत जोति जोति ओहि भई।
रवि, ससि, नखत दिपहिं ओहि जोती। रतन पदारत, मानिक, मोती।
जहँ तहँ बिहँसि सुभावहिं हँसी। तहँ तहँ छिटकि जोति परगसी॥

नयन जो देखा कँवल भा, निरमल नीर सरीर।
हँसत जो देखा हंस भा, दसन-ज़ोति नग हीर॥

कबीर ने अपना संकेत इस ओर भी किया है—

अविगत अकल अनूपम देखा, कहता कही न जाय।
सैन करै मन ही मन रहसे, गूँगे आनि मिठाय॥

फिर आगे कहते हैं—

लिखा लिखी की है नहीं, देखा देखी बात।
दुलहा दुलहिन मिलि गए, फीकी परी बरात॥

इसी तरह—

कहैं कबीर मुख कहा न जाई,
ना कागद पर अंक चढ़ाई।
मानों गूँगे सम गुड़ खाई,
कैसे वचन उचारा हो।

विराट् का ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न अनन्त काल से हो रहा है। पर आज तक कोई भी प्रयत्न सफल नहीं हुआ। प्रसाद जी कहते हैं—

सब कहते हैं खोलो खोलो,
छवि देखूँगा जीवन-धन की।

आवरण स्वयं बनते जाते,
है भीड़ लग रही दर्शन की।

उसके दर्शन तो नहीं हुए, पर कुछ भान अवश्य हुआ।

हे विराट! हे विश्व देव! तुम
कुछ हो ऐसा होता भान—
मंद गंभीर धीर स्वर संयुत
यही कर रहा सागर गान।

यह अप्रत्यक्ष विराट् ही वह विश्राम-स्थल है जहाँ सुख शान्ति की प्राप्ति हो सकती है—

अब तो यह विश्वास जम गया—
कि बस यहीं है शान्ति।
यहीं तुम्हारे द्वारे है—
इस जीवन का कल्याण।
खड़े हम इसीलिए अनजान।

—नवीन

क्योंकि—

चुभते ही तेरा अरुण बाण,
बहते कन-कन से फूट-फूट,
मधु के निर्झर से सजल गान।

—महादेवी वर्मा

महत्व की अनुभूति होते ही मानव का मन उसके दर्शन के लिए व्याकुल होने लगता है—

कौन बन बसथि महेस,
केओ नहिं कहथि उदेस।

—विद्यापति

जायसी को भी दर्शन की अभिलाषा है—

पिउ हिरदै महँ भेंट न होई। कोरे मिलाव कहौं केहि रोई ॥

साधक अपने प्रियतम को देखने का प्रयत्न करता है। वह बार-बार सोचता है कि क्या वे आने वाले हैं।

नयन श्रवण मय, श्रवण नयन-मय,
आज हो रही कैसी उलझन,
क्या प्रिय आने वाले हैं ?

—महादेवी वर्मा

उनसे आने की प्रार्थना करता है। दर्शन की अभिलाषा वेगवती है, यदि आ जाते—

जो तुम आ जाते एक बार
कितनी करुणा, कितने संदेश
पथ में बिछ जाते बन पराग
गाता प्राणों का तार तार
उन्माद भरा अनुराग राग
आँसू धोते वे पद पखार
जो तुम आ जाते एक बार

—महादेवी वर्मा

इसी दर्शन के प्रयत्न-काल में साधक को इस जगत के समस्त पदार्थों में अपने प्रियतम के रूप की झलक मिलती है। वह उसको अनेक रूपों और सम्बन्धों में देखता है। वह स्वामी बनकर उसके समक्ष आता है, वह माता-पिता के रूप में उपस्थित होता है; वह पति-रूप में आता है। इसी अन्तिम रूप में उत्सुकता, सौंदर्यानुभूति, करुणा-विरह, मिलन-सुख आदि आते हैं।

दादू कहते हैं—

पिव जो देखइ मुज्झको, हौं भी देखउँ पीव।
हौं देखउँ देखत मिलइ, तो सुख पावइ जीव ॥

पत में भी यही उत्सुकता है—

हाँ सखि आओ, बाँह खोल हम,
लगकर गले जुड़ा लें प्राण।
फिर तुम तम में, मैं प्रियतम में,
हो जावें द्रुत अन्तर्धान ॥

सौंदर्य की अनुभूति से तल्लीनता आती है—

बिजली माला पहने फिर,
मुसकाता-सा आँगन में
हाँ कौन बरस जाता था,
रस बूँद हमारे मन में ?—प्रसाद

रहस्यवाद का मुख्य अंग विरह है। साधक प्रियतम के वियोग में दुखी है, उसके वियोग में उसे सारी प्रकृति ही दुखी दिखाई देती है—

एकहि पलंग पर कान्ह रे, मोर लेख दूर देस भाग रे ॥
—विद्यापति

कबीर ईश-विरह में व्याकुल हैं—

हरि मोर पीव माई हरि मोर पीव ।
हरि बिनु रहि न सकै मोर जीव ॥

वे फिर कहते हैं—

नैना नीझर लाइया, रहंट बहै निस जाय ।
पपीहा ज्यूँ पिव पिव करौं, कबरू मिलहुगे राम ॥

उसी के वियोग के कारण सारी सृष्टि दुखी है।

सूरुज बूड़ि उठा होइ ताता । औ मजीठ टेसू बन राता ॥
भा बसंत, रातीं बनसपतीं । औ राते सब जोगी जती ॥
भूमि जो भीजि भएउ सब गेरू । औौर राते सब पंखि पखेरू ॥
राती सती, अगिनि सब काया । गगन मेघ राते तेहिं छाया ॥

प्रिय वियोग की करुणा नीचे की पंक्तियों में साकार हो उठी है—

नित जलता रहने दो तिल-तिल,
अपनी ज्वाला में उर मेरा।
उसकी विभूति में फिर आकर,
अपने पद-चिन्ह बना जाना।

—महादेवी वर्मा

आगे कबीर विरहाग्नि से जलते हुए कितने करुणापूर्ण शब्दों में कहते हैं—

यहु तन जालौं मसि करौं ज्यों धुआ जाई सरग्गि।
मति वै राम दया करै बरसि बुझालें अग्गि॥

पर जैसे ही आत्म-ज्ञान हो जाता है आत्मा परमात्मा में लीन हो जाती है—

बहुत दिनन में मैं पीतम पाये।
भाग बड़े घर बैठे आए॥

—कबीर

इसी प्रकार जायसी में—

पथिक जो पहुँचे सहि के घामू।
दुख बिसरइ, सुख होइ बिसरामू॥
जेहि पाई यह छाँह अनूपा।
फिरि नहिं आय सहइ यह धूपा॥

बस, यही साधक का अन्तिम लक्ष्य है। उस अनन्त से एकाकार होना ही उसका सर्वस्व है। उसका अंश जैसे ही साधक को प्राप्त हो जाता है, वह आनन्द-विभोर हो जाता है। अपने उस आनन्द को वह सब को वितरित करना चाहता है।

अतः रहस्यवाद केवल 'वाद' ही नहीं है। कवि (साधक) उस (ब्रह्म) से जो सम्बन्ध स्थापित करता है, उसे उससे जो आनन्द प्राप्त

होता है, उस आनन्द का वह जो वितरण करना चाहता है, उसी की अभिव्यक्ति वह नाना रूपों, नाना प्रकार से करता है। उसको ही हम रहस्यवाद कहने लगे हैं। यदि किसी को इस शब्द से चिढ़ हो तो वह इसे 'वाद' न कहकर रहस्यानुभूति कह सकता है। पर यह अभारतीय वस्तु कदापि नहीं।

आनन्दवाद (प्रसाद जी)

दर्शन के क्षेत्र में ब्रह्म को दार्शनिक सत्, चित्, आनन्द से समन्वित मानते आए हैं। पर साहित्यकार ने इन तीनों में से आनन्द को अधिक महत्वशाली समझा है। शंकर ने जगत को मिथ्या मानकर ब्रह्म को ही केवल सत्य घोषित किया था। पर जगत को मिथ्या मानने से मनुष्य निराशा-सागर में गोते लेने लगता है। इसे सांसारिक कार्यों में न तो कोई रुचि होती है और न किसी प्रकार का आनन्द। वह एक मशीन की भाँति कार्य करता चला जाता है जिसमें उसे कुछ रस नहीं आता। पर प्रसाद जी ने यह देखा और समझा। शंकर के अद्वैतवाद को अपनाते हुए भी उन्होंने शंकर के स्वर में स्वर मिलाकर जगत को मिथ्या नहीं कहा। उन्होंने शैवागमों के दर्शन से समरसता का सिद्धांत अपनाया। फल यह हुआ कि कामायनी का उद्देश्य ही आनन्दवाद की पुष्टि करना हुआ।

इस आनन्दवाद के सिद्धान्त में शैवागमों में से तो बहुत कुछ लिया ही गया है, पर इन्द्र के आत्मवाद का, उपनिषदों का, और बौद्धों की आनन्दवादी महायान शाखा का प्रभाव भी बहुत स्थलों पर दिखाई देता है। शैवागमों ने विश्व को आत्मा का अभिन्न अंग माना। उन्होंने संसार को मिथ्या मानकर असंभव कल्पना के पीछे भटकना ठीक नहीं समझा। दुखवाद के कारण संसार से वैराग्य लेने की आवश्यकता नहीं हुई। अतः इनमें जगत और आत्मा की व्यावहारिक अद्वयता के कारण आनन्द की सहज भावना विकसित हुई। वे कहते हैं—

त्वमेव स्वात्मानं परिणमयितुं विश्ववपुषा।
चिदानन्दाकारं शिव युवति भावेन विभृषे॥

आगमानुयायी के अनुसार प्रत्येक भावना तथा प्रत्येक दशा में आत्मानन्द प्रतिष्ठित रहता है। उसकी अद्वैत साधना के अनुसार सब विषयों तथा इन्द्रियों के सभी अर्थों में शिव है, अशिव नहीं। आगे चलकर पौराणिक युग में कृष्ण में बुद्धिवाद और आनन्दवाद का समन्वय मिलता है। इसके पश्चात् शैवागमों का विश्वात्मवाद बौद्धों की महायान शाखा में दिखाई पड़ा। इसने बौद्ध मत की शून्यता से ऊबकर आनन्द की खोज की थी, परन्तु इसमें आनन्दवाद का विस्तृत रूप दिखाई नहीं पड़ा। इसके अनन्तर आनन्दवाद सिद्धों के रहस्य सम्प्रदाय में दिखाई पड़ा जिसकी छाप हिन्दी के निर्गुणवादी कवि कबीर आदि पर भी पड़ी, परन्तु कबीर के राम में विवेकवाद की अधिक प्रधानता रही। अतः इससे यह स्पष्ट है कि आनन्दवाद विशुद्ध भारतीय वस्तु है विदेशी वस्तु नहीं।

आभ्यान्तर में स्थित आनन्दभाव को भुलाकर मनुष्य पाप की सत्ता को महत्ता देने लगता है। यह आनन्दवाद किसी एक ही समाज तथा देश तक सीमित नहीं है। यह एक सार्वभौम भाव है। प्रसाद जी ने इसको मानव जीवन के महान् धर्म के रूप में देखा है। इस आनंद-भाव की प्राप्ति में संगीत बड़ी सहायता करता है।

प्रसाद जी ने 'कामायनी', 'इरावती' और 'सालवती' में इसी आनन्दवाद को विकसित तथा पुष्ट किया है। प्रसाद के बौद्ध दर्शन के 'सर्व क्षणिकम्' के सिद्धान्त और उसके अनात्मवाद के विरोध के दर्शन हमें 'स्कन्दगुप्त' में मिलते हैं। वे कहते हैं "अहंकारमूलक आत्मवाद का खंडन करके गौतम ने विश्वात्मवाद को नष्ट नहीं किया। यदि वैसा करते तो इतनी करुणा की क्या आवश्यकता थी? उपनिषदों के 'नेति नेति' से ही गौतम का आत्मवाद पूर्ण है। यह प्राचीन महर्षियों का कथित सिद्धान्त मध्यमा प्रतिपदा के नाम से,

संसार में प्रचारित हुआ; व्यक्ति रूप में आत्मा के सदृश कुछ नहीं है। वह एक सुधार था।" इससे प्रसाद के अजातशत्रु में प्रतिपादित क्षणिक वाद के विरोध में आत्मवाद का प्रतिपादन प्रकट होता है।

'एक घूँट' नामक एकांकी में प्रसाद जी ने इसी आनन्दवाद को अपनाया है। इसमें आनन्दवाद का व्यवहारिक रूप उपस्थित किया गया है। उसमें आनन्द ही आनन्दवाद का प्रचारक है। वह कहता है 'जैसे उजली धूप सबको हँसाती हुई आलोक फैला देती है, जैसे उल्लास की मुक्त प्रेरणा फूलों की पंखुड़ियों को गद्गद् कर देती है, जैसे सुरभि का शीतल झोंका सबका आलिंगन करने के लिए विह्वल रहता है, वैसे ही जीवन की निरन्तर परिस्थिति होनी चाहिए।" इसपर प्रेमलता कहती है "किन्तु जीवन की झंझटें, आकांक्षाएँ ऐसा अवसर आने दें, तब न! बीच-बीच में ऐसा अवसर आ जाने पर भी वे चिरपरिचित निष्ठुर विचार गुर्राने लगते हैं। तब!" आनन्द इसका उत्तर इस प्रकार देता है "उन्हें पुचकार दो, सहला दो; तब भी न मानें, तो किसी एक का पक्ष न लो। बहुत संभव है कि वे आपस में लड़ जाएँ और तब तुम तटस्थ दर्शक-मात्र बन जाओ और खिल-खिलाकर हँसते हुए वह दृश्य देख सको।" इस प्रकार से यह स्पष्ट है कि प्रसाद जी सुख-दुःख के साथ तटस्थ रहने का संदेश दे रहे हैं। हृदय में प्रिय तथा अप्रिय भावों का द्वन्द्व चलता ही रहता है। साधना द्वारा यह संभव है कि मनुष्य अप्रिय भावों को हृदय में स्थान ही न दे।

प्रसाद जी अपने बाद के साहित्य में दुखवादी नहीं हैं। वे आनंद के शब्दों में कह उठते हैं "(दुख) होगा कहीं! हम लोग उसे खोज निकालने का प्रयत्न क्यों करें? अपने काल्पनिक अभाव, शोक, ग्लानि और दुख के काजल आँसू में घोलकर सृष्टि के सुन्दर कपोलों को क्यों कलुषित करें? मैं उन दार्शनिकों से मतभेद रखता हूँ जो यह कहते आए हैं कि संसार दुखमय है और दुख के नाश का उपाय सोचना ही पुरुषार्थ है।" इसी प्रकार की भावना प्रसाद ने व्यक्त की है। वे

कहते हैं कि हमने दुख को लेकर एक बड़ा महल बना रखा है और दूसरे के दुख से हम दुखी हो जाते हैं। कवियों ने दुख और वेदना से भरे गीत गाकर दुख का और भी प्रचार किया है। उन्हें रसाल के इस गीत से अरुचि है—

जलधर की माला
घुमड़ रही जीवन घाटी पर—जलधर की माला।
आशा-लतिका कंपती थर थर—
गिरे कामना-कुंज हहर कर
अंचल में है उपल रही भर
यह करुणा बाला।

× × × ×

अंधकार गिरि-शिखर चूमती
असफलता की लहर घूमती
क्षणिक सुखों पर सतत झूमती
शोकमयी ज्वाला!

उन्हें ऐसे गीत पसन्द नहीं हैं। वे दुखवाद के पचड़े को कायर बनाने वाला और डराने वाला समझते हैं। उन्हें तो स्वास्थ्य, सरलता, सौंदर्य और प्रेम की आवश्यकता है जो मानव-जीवन के लिए अनिवार्य हैं। जब ये विभूतियाँ ही मानव के पास होती हैं तब आनन्द का स्रोत अजस्र-रूप से बहने लगता है। इनके अभाव में मानव मानव नहीं केवल मानव बनने का ढोंग मात्र है।

प्रेम का रूप क्या हो, इस विषय में अपने-अपने मतानुसार भिन्न राय हैं। एक प्रकार का प्रेमभाव तो ब्रह्मवादी सन्यासी का है। वह सब से मानवता के नाते स्वभाव से प्रेम करने में समर्थ है, परन्तु ऐसा प्रेम करना संसारी व्यक्तियों के लिए आकाश-कुसुम तोड़ने के समान है। दूसरे, मानवता के नाम पर किया जाने वाला प्रेम समर्पण की भावना नहीं रखता। इसीलिए, प्रसाद प्रेम के केन्द्र की चर्चा चलाते हैं। दुनिया से दूर रह कर निष्काम प्रेम वाली बात को वे पोंगापन्थी

व ढोंग समझते हैं। जीवन से दूर रहकर हम अपने प्रेम से स्वयं अपने को ही छल सकते हैं। अतः अपने सांसारिक कर्तव्यों को करते हुए, राग-द्वेष से अलग रहकर अगर हम प्रेम की सरिता बहा सकें, यदि हम सब एक या दो प्राणियों में विश्वास और मधुरता का भाव रख-कर अपना दिल खोल सकें तो हमारा जीवन स्वर्ग ही हो जाय। कवि कहता है—

'खोल तू अब भी आँखें खोल!
जीवन उदधि हिलोरें लेता उठती लहरें लोल।
छवि की किरनों से खिल जा तू,
अमृत-झड़ी सुख में झिल जा तू;
इस अनन्त स्वर से मिल जा तू वाणी में मधु घोल!
जिससे जाना जाता सब यह, उसे जानने का प्रयत्न! अह!
भूल अरे अपने को, मत रह जकड़ा, बंधन खोल
खोल तू अब भी आँखें खोल!

इस प्रकार आनन्दवाद के मूल में प्रसाद जी, उत्सर्ग, प्रेम और विश्वासपूर्ण आत्म-समर्पण प्रतिष्ठित करते हैं।

जैसा पहले कहा जा चुका है, प्रसाद जी की विचारधारा में औप-नैषदिक् अद्वैतवाद, शैवाद्वैतवाद, भक्ति, बौद्ध-दर्शन तथा नियति-वाद का सुन्दर सम्मिश्रण है। उनका दाण्डायन कहता है "भूमा का सुख और उसकी नश्वर महत्ता का जिसको आभास-मात्र हो जाता है, उसको ये नश्वर चमकीले प्रदर्शन अभिभूत नहीं कर सकते। वह किसी बलवान की इच्छा का क्रीड़ा-कन्दुक नहीं बन सकता।" दाण्डायन आगे फिर कहता है "समस्त आलोक, चैतन्य और प्राण-शक्ति प्रभु की दी हुई है। मृत्यु के द्वारा वही उसको लौटा लेता है।" बुद्ध के 'मज्झम मार्ग' का 'आँधी' में इस प्रकार आदेश देते हैं— "सुख और दुःख, आकाश और पृथ्वी, स्वर्ग और नरक के बीच में

वह सत्य है जिसे मनुष्य प्राप्त कर सकता है।" अलका कहती है "मेरा देश है, मेरे पहाड़ हैं, मेरी नदियाँ हैं, और मेरे जंगल हैं। इस भूमि के एक-एक परमाणु मेरे हैं और मेरे शरीर के एक-एक क्षुद्र अंश इन्हीं परमाणुओं में से बने हैं।" कैसा विश्वास और प्रेम है! प्रसाद के आनन्दवाद में इस तरह ये सब तत्व वर्तमान हैं।

प्रसाद जी आत्मा को आनन्द-स्वरूप मानते हैं। आनन्दमय जीवन कैसे हो; यही मनु तथा श्रद्धा के चरित्र द्वारा बताया गया है। मनु रस-लोलुप भौंरे की भाँति श्रद्धा को छोड़कर आनन्द की खोज में निकलते हैं और सारस्वत नगर में इड़ा को अपने फंदे में फाँसते हैं; किन्तु आनन्द के स्थान पर मिले-संघर्ष, कलह और अशान्ति। अन्त में वे इड़ा को भी छोड़कर भाग निकलते हैं और श्रद्धा से मिलने पर ही उन्हें आनन्द की उपलब्धि होती है। इस प्रकार कवि यह प्रकट करता है कि आनन्द के मूल में श्रद्धा का होना आवश्यक है, बिना श्रद्धा के आनन्द नहीं मिलता। ज्ञान भी श्रद्धा से ही मिलता है। यदि किसी के जीवन में श्रद्धा तत्व आगया तो बुद्धि या ज्ञान तत्व स्वतः आ जायगा। गीता में कहा गया है—

'श्रद्धावान् लभते ज्ञानं'

अर्थात् श्रद्धावान् को ही ज्ञान मिलता है। ज्ञान श्रद्धा के न होने पर बंधन बन जाता है। बुद्धि कभी आकर स्वयं भेद नहीं डालती। जब मन श्रद्धा रहित हो और बुद्धि की ओर आकृष्ट हो तभी भेद उत्पन्न होता है। वैसे मनु श्रद्धा के होने पर इड़ा की ओर आकृष्ट नहीं होते। पर श्रद्धा के पास रहते हुए भी, हृदय से प्रेरणा न होने पर, उनके हृदय में भेद-बुद्धि बनी रहती है। जहाँ श्रद्धा नहीं है, वहाँ सारे नियम, सारी व्यवस्था बेकार है। इड़ा नियम बनाती है पर, श्रद्धा के अभाव में मनु उनका पालन नहीं करता। मनु केवल स्वच्छन्द-रूप से नियमों का उल्लंघन करके उप-भोग करना चाहता है। सारांश यह है कि जो केवल बुद्धि के सहारे सुख-प्राप्ति की इच्छा करते हैं वे मनु के समान दुख पाते हैं। कहने का मतलब यह है कि प्रसाद जी

यह कहते हैं कि श्रद्धा-रहित बुद्धि द्वारा आनन्द की प्राप्ति नहीं होती, जैसा कि आज हम चारों ओर देख रहे हैं। प्रसाद जी बुद्धिवाद का घोर विरोध करते हैं परन्तु श्रद्धा होने पर बुद्धि आ ही जाती है। इस घोर बुद्धिवाद का विरोध प्रसाद जी ने सारस्वत नगर की रूप-रेखा खींचकर किया है। मनु जीवन में इन्द्रिय-सुख को ही सब कुछ समझने लगे हैं। वे 'अहंवाद' का राग अलापते हैं।

तुच्छ नहीं है अपना सुख भी,
श्रद्धे ! वह भी कुछ है;
दो दिन के इस जीवन का तो
वही चरम सब कुछ है।
इन्द्रिय की अभिलाषा जितनी
सतत सफलता पावे;
जहाँ हृदय की तृप्ति विलासिनि
मधुर-मधुर कुछ गावे।
रोम-रोम हो उस ज्योत्स्ना से
मृदु मुसक्यान खिले तो;
आशाओं पर श्वास निछावर
हो कर गले मिले तो।

और यही अहंवाद भयंकर रूप धारण कर लेता है। मनु गर्भिणी श्रद्धा को छोड़कर भाग गए। वे सारस्वत प्रदेश में पहुँचे जहाँ इड़ा का शासन चल रहा था। इड़ा ने मनु को नया मन्त्र दिया—

"शनि का सुदूर वह नील लोक
जिसकी छाया सा फैला है ऊपर नीचे यह गगन शोक,
उसके भी परे सुना जाता कोई प्रकाश का महा ओक।
वह एक किरन अपनी देकर मेरी स्वतन्त्रता में सहाय,
क्या बन सकता है ? नियति जाल से मुक्तदान का कर उपाय।"

× × × ×

कोई भी हो वह क्या बोले, पागल बन नर निर्भर न करे,
अपनी दुर्बलता बल सम्हाल गंतव्य मार्ग पर पैर धरे;
मत कर पसार निज पैरों चल, चलने की जिसको रहे झोंक
उसको अब कोई सके रोक !

"हाँ, तुम ही हो अपने सहाय
जो बुद्धि कहे उसको न मान कर फिर किसकी नर शरण जाय,
जितने विचार संस्कार रहे उनका न दूसरा है उपाय।
यह प्रकृति परम रमणीय अखिल ऐश्वर्य भरी शोधक-विहीन,
तुम उसका पटल खोलने में परिकर कस कर बन कर्मलीन।
सबका नियमन शाशन करते बस बढ़ा चलो अपनी क्षमता,
तुम ही इसके निर्णायक हो हो कहीं विषमता या समता।
तुम जड़ता को चैतन्य करो विज्ञान सहज साधन उपाय,
यश अखिल लोक में रहे छाय।"

और मनु को लेकर इड़ा ने नया तन्त्र आरम्भ किया। मनु उसके नियामक बने। उन्होंने प्रकृति पर विजय पायी, मानव का वर्ण-विभाजन किया, श्रम को महत्त्व दिया और एक नयी वैज्ञानिक भौतिक सभ्यता को जन्म दिया। प्रसाद जी ने जिस भौतिक-वैज्ञानिक सभ्यता का चित्र खींचा है, उससे यह स्पष्ट है कि वह पश्चिमी भौतिक चित्र है। प्रसाद ने कामायनी में इसी सभ्यता की असफलता का चित्र उपस्थित किया है, परन्तु इस चित्र के उपस्थित करने में उनका उद्देश्य केवल उसका विरोध-मात्र नहीं है; क्योंकि वे बुद्धिवाद का विरोध करते हैं बुद्धि का नहीं। बुद्धि के प्रयत्नों का अन्त होता ही नहीं मनु इड़ा से पूछते हैं 'और अभी कुछ करने को शेष है।

"......यह सब आज हुआ है जो कुछ इतना !
क्या न हुई है तुष्टि ? बच रहा है अब कितना ?"

परन्तु इड़ा उत्तर देती है—

"आह प्रजापति यह न हुआ है कभी न होगा,
निर्वासित अधिकार आज तक किसने भोगा ?"

इसी प्रकार से प्रसाद जी विकासवाद की बात करते हुए यह दिखाते हैं कि नित्य नए अधिकारों की माँग, भौतिक सुखों की प्राप्ति के लिए आत्मा का नाश, वर्ग-संघर्ष आदि वस्तुएँ ही तो पश्चिमी सभ्यता की देन हैं—

"वह विज्ञानमयी अभिलाषा पंख लगाकर उड़ने की,
जीवन की असीम आशाएँ कभी न नीचे मुड़ने की;
अधिकारों की सृष्टि और उनकी वह मोहमयी माया,
वर्गों की खाई बन फैली कभी नहीं जो जुड़ने की।"

और इसी कारण प्रजा विद्रोह करती है। मनु झुकना नहीं चाहते। वे आहत होते हैं। श्रद्धा उन्हें ढूँढ़ती हुई वहाँ पहुँचती है। मनु फिर श्रद्धा के चरणों में अपने को समर्पित कर देना चाहते हैं। वे कहते हैं—

"ले चल इस छाया के बाहर,
मुझको दे न यहाँ रहने।
मुक्त नील-नभ के नीचे या,
कहीं गुहा में रह लेंगे,
अरे झेलता ही आया हूँ,
जो आवेगा सह लेंगे।"

बस, इस प्रकार पश्चिमी सभ्यता का खोखलापन दिखाकर प्रसाद जी श्रद्धा बिना आनन्द की प्राप्ति असम्भव समझते हैं। पर वे बुद्धि का महत्व भी मानते हैं और वे बुद्धि तथा श्रद्धा के योग से ही आनन्द की प्राप्ति संभव मानते हैं। वे कह उठते हैं—

"यह तर्कमयी तू श्रद्धामय,
तू मननशील कर कर्म अभय;
इसका तू सब संताप निचय,
हर ले, हो मानव भाग्य उदय;
सबकी समरसता कर प्रचार,
मेरे सुत! सुन माँ की पुकार।"

श्रद्धा का स्वरूप ही सात्विक है। श्रद्धा त्रिपुरों को मिलाने वाली है। जो जितना श्रद्धामय होगा वह उतना ही वीर्यवान होगा। चरित्र का मूलाधार भी श्रद्धा ही है। श्रद्धा के भाव को तोप, तलवार और बन्दूक के गोले भी नहीं मिटा सकते। हमारे शरीर पर कोई बलपूर्वक अधिकार कर सकता है, परन्तु श्रद्धा को कोई बलपूर्वक नहीं छीन सकता। इसी प्रकार की श्रद्धा का भाव प्रसाद जी के अन्य ग्रन्थों में भी मिलता है। स्कन्दगुप्त में संसार की ज्वाला से झुलसते हुए लोगों के लिए श्रद्धा, बसंत की चन्द्रिका पूर्ण रात्रि की तरह शान्तिदायिनी है।

"घने प्रेम तरुतले
बैठ छाँह लो भव आतम से तापित और जले।
छाया है विश्वास की श्रद्धा सरिता कूल।"

श्रद्धा ही प्रेम और विश्वास दोनों को उत्पन्न करती है। यही कारण है प्रसादजी ने श्रद्धा को लौकिक तथा अलौकिक दोनों आनन्दों की जननी माना है।

कामायनी में आनन्दवाद का आधार ही आत्मवाद है। आत्मवाद का सिद्धान्त है, 'सोऽहम्' 'मैं वही हूँ'। इस सिद्धान्त के अनुसार 'अहम्' अपने को सर्वत्र देखता है। यह आत्मवाद मनुष्य में अभेद-दृष्टि लाता है। इसमें पूज्य-पूजक और उपास्य-उपासक का भेद नहीं रहता। जीव बाह्य संसार के प्रभाव में अपने वास्तविक स्वरूप को भूल जाता है। अतः अनुभूति द्वारा शिव तथा आनन्द-तत्व का प्रत्यभिज्ञान करना ही जीवन का चरम लक्ष्य है। व्यक्ति की आत्मा में माहेश्वरी शक्ति है। परन्तु वह उपाधियुक्त होने के कारण सुप्त हो जाती है। पर जब व्यक्ति में चेतना आती है तो वह संसार को अपना समझता है और उसमें माहेश्वरी शक्ति जगती है। वह पूर्ण आनन्दमय हो जाता है और 'सोऽहम्' के पद को प्राप्त करता है। प्रसाद जी शक्ति-तत्व अर्थात् प्रकृति-तत्व को भी मानते हैं परन्तु यह शक्ति-तत्व शिव-तत्व का व्यक्त स्वरूप है। जब प्रलय होती है तो शिव-तत्व अपने

स्वरूप में रहता है जिसे 'लय' अवस्था कहते हैं। जिस समय वह सृष्टि रूप में अपनी शक्ति का विस्तार करता है उसे भोगावस्था कहते हैं। कामायनी में यह दोनों ही अवस्थायें दिखाई गई हैं। शिव-तत्व के दो भाव हैं विश्वात्मक तथा विश्वोत्तीर्ण। विश्वात्मक रूप में परम शिव कण-कण में व्याप्त है और विश्वोत्तीर्ण रूप में वह सभी पदार्थों को अतिक्रमण करता है। परम शिव का यह विश्वोत्तीर्ण रूप ताण्डव नृत्य के समय होता है। शिव और शक्ति का सामरस्य ही परम शिव है। इसी समरसता का प्रचार प्रसाद जी कामायनी में हर प्रकार से करने का प्रयत्न करते हैं। श्रद्धा समरसता के सिद्धान्त के द्वारा ही मनु का दुःख दूर करती है। वह कहती है—

"दुःख की पिछली रजनी बीच,
विकसता सुख का नवल प्रभात।
एक परदा यह झीना नील,
छिपाए है जिसमें सुख गात॥
नित्य समरसता का अधिकार,
उमड़ता कारण जलधि समान।
व्यथा से नीली लहरों बीच,
उमड़ते सुख मणिगण द्युतिमान॥

इसी प्रकार नर-नारी, अधिकार-अधिकारी तथा शासक-शासित में समरसता न होने पर घोर विद्रोह और विप्लव दिखाने का प्रयत्न किया है। स्त्री-पुरुष की समरसता का उदाहरण उन्होंने श्रद्धा और मनु के जीवन से प्रत्यक्ष किया है। जब तक श्रद्धा और मनु के जीवन में समरसता नहीं आती तब तक उनको अनेक क्लेश और दुःख सहने पड़ते हैं। मनु जब तक अपने में ही लीन रहते हैं और तृप्ति का साधन खोजते रहते हैं तब तक उन्हें घोर अशान्ति का सामना करना पड़ता है। इसीलिए उनके मन में यह विचार आता है और दुःख देता है।

"तुम भूल गए पुरुषत्व मोह में कुछ सत्ता है नारी की।
समरसता है सम्बन्ध बनी अधिकार और अधिकारी की।"

श्रद्धा के द्वारा मनु के जीवन में सामरस्य आने पर ही उनको ताण्डव नृत्य के दर्शन होते हैं। सारस्वत प्रदेश में अधिकार-अधिकारी, शासक-शासित तथा व्यक्ति-समाज में समरसता न थी। इसी कारण वहाँ घोर अशान्ति थी और इतना बड़ा संघर्ष हुआ। श्रद्धा जब सारस्वत प्रदेश को छोड़कर जाती है तो वह अपने पुत्र को समरसता का उपदेश देती है—

"सबकी समरसता कर प्रचार,
मेरे सुत! सुन माँ की पुकार।"

कामायनी के अन्तिम तीन सर्गों (दर्शन, रहस्य तथा आनन्द) में कवि ने मानव और प्रकृति की समरसता दिखाई है। आनन्द सर्ग में जहाँ सारा विश्व समरस तथा आनन्द से पूर्ण है, वहाँ सभी समरस है। वहाँ किसी प्रकार की द्वयता है ही नहीं। यहाँ पुरुष और प्रकृति का पूर्ण-रूपेण सामरस्य है—

× × यहाँ पर
कोई भी नहीं पराया।
हम अन्य न और कुटुम्बी
हम केवल एक हमीं हैं;
तुम सब मेरे अवयव हो
जिसमें कुछ नहीं कमी है।
शापित न यहाँ है कोई,
तापित पापी न यहाँ है।
जीवन-वसुधा समतल है
समरस है जो कि जहाँ है।

पर यह आनन्द कर्म, ज्ञान और इच्छा का सामरस्य होने पर ही प्राप्त हो सकता है और इन्हीं तीनों का सामरस्य प्रसाद जी ने 'रहस्य'

र्ग में दिखाया है। जब इन तीनों में सामरस्य हो जाता है तब पूर्ण ानन्द की उपलब्धि होती है। उस समय प्रकृति के अणु-अणु में, ण-कण में 'मैं' ही झलकता है। उसे द्वयता का बोध ही नहीं रहता। ारी सृष्टि में अभेद-दृष्टि हो जाती है। उसे हर कण में 'यह मैं हूँ' का ोध होने लगता है ऐसा बोध होने पर ही सारे संसार के दुःख-सुख सके दुःख-सुख हो जाते हैं। दूसरों की सेवा स्वयं की सेवा हो ाती है—

सब की सेवा न पराई
वह अपनी सुख-संसृति है;
अपना ही अणु-अणु कण-कण
द्वयता ही तो विस्मृति है।
मैं की मेरी चेतनता
सब को ही स्पर्श किए सी;
सब भिन्न परिस्थितियों की
है मादक घूँट पिए-सी।
जग ले ऊषा के दृग में
सो ले निशि की पलकों में;
हाँ, स्वप्न देख ले सुन्दर
उलझन वाली अलकों में—
चेतन का साक्षी मानव
हो निर्विकार हँसता-सा,
मानस के मधुर मिलन में
गहरे-गहरे धँसता सा ?
सब भेद-भाव भुलवाकर
दुख-सुख को दृश्य बनाता;
मानव कह रे ! 'यह मैं हूँ'
यह विश्व नीड़ बन जाता।

कवि की यही विश्व-प्रेम की पुकार 'प्रेम पथिक' में मिलती है—

आत्मसमर्पण करो उसी विश्वात्मा को पुलकित होकर,
प्रकृति मिला दो विश्वप्रेम में विश्व स्वयं ही ईश्वर है।

इस प्रकार हमें प्रसाद जी के आनन्दवाद में शैवागमों के आनन्दवाद, उपनिषदों के अद्वैत और आधुनिक युग के कर्मवाद अर्थात् जनवाद का पूर्ण समन्वय मिलता है। प्रसाद अद्वैतवाद का ही संदेश देते हैं और उनका आनन्दवाद व्यावहारिक तथा मनोवैज्ञानिक है। वे श्रद्धावादी हैं, विवेकवादी नहीं।

'करुणावाद'

'करुणावाद' शब्द वैसा ही समझिए जैसे और 'वाद'। कारण इस समय 'वादों' का बड़ा जोर है। 'वाद' कह कर हम किसी विचार को एक संकुचित घेरे में बाँधना चाहते हैं और जो उस विचार-धारा में बहता है उसको हम उसी 'वाद' के अन्तर्गत मानने लगते हैं। उस कवि या लेखक की कृतियों को हम वही चश्मा लगाकर देखते हैं। इससे लाभ की जगह हानि होने की अधिक सम्भावना है। हमारा सारा दृष्टिकोण ही एक ओर सीमित हो जाता है और पीलिया के रोगी की तरह सब चीजें पीली ही पीली दिखाई देने लगती हैं। मेरे कहने का अर्थ यही है कि अभी 'करुणावाद' शब्द 'रहस्यवाद' आदि 'वादों' की भाँति प्रचलित नहीं है पर शायद इसका प्रचार बढ़ता जा रहा है।

इस 'करुणा' को 'वाद' तक घसीटने की प्रवृत्ति के बढ़ने का कारण स्पष्ट ही है कि प्रसाद और महादेवी ने बुद्ध-दर्शन के दुखवाद और क्षणिकवाद को अपनाया है। वैसे तो करुणा वह मूल मनोवेग है जो युगों से मानव-मात्र का कल्याण करता आया है। यही कारण है कि करुणा से अब 'करुणावाद' हो चला है।

करुणा का आधार दुख और चीजों की क्षण-भंगुरता का होना है। महात्मा बुद्ध के दर्शन में दुखवाद और क्षणिकवाद को बहुत गहरा स्थान मिला है। या यों कहिए कि उनके दर्शन का मूलाधार दुखवाद है। उनका कहना है कि जीवन ही मृत्यु का दूसरा नाम है। प्रसाद के शब्दों में—

जीवन तेरा क्षुद्र अंश है
व्यक्त नील घन-माला में
सौदामिनी-संधि-सा सुन्दर
क्षण भर रहा उजाला में ।

कोई भी वस्तु शाश्वत नहीं है, सब क्षणिक हैं। किसी में स्थायित्व नहीं है, सब परिवर्तनशील हैं। क्षण-क्षण में परिवर्तन होता रहता है। जो कुछ भी दृष्टिगत होता है वह नश्वर है। परिणाम में दुख ही हाथ लगता है। इन क्षणिक सुखों को जो स्थायी मान लेते हैं वही बड़ी भूल करते हैं, क्योंकि इस संसार में कुछ भी स्थायी नहीं। अतः परि-णाम वही दुख होगा। हाँ, डा० राधाकृष्णन् के शब्दों में बुद्ध ने कभी निराशावाद का प्रचार नहीं किया। उनके दर्शन में इस वृत्ति ने स्थान नहीं पाया। "Buddha does not preach the meve worth-lessness of life or resignation to an inevitable doom. His is not a doctrine of despair." अतः बुद्ध का दुखवाद निराशाजनक नहीं है। यही करुणावाद की पृष्ठभूमि है।

पर करुणा शब्द बड़ा व्यापक है। किसी को दुखी देखकर जो भाव जागृत होता है उसे करुणा कहते हैं। जिसके प्रति करुणा जगी उसकी भलाई करने का प्रयत्न किया जाता है। दूसरे के दुख से दुखी होना दूसरे के सुख से सुखी होने से अधिक व्यापक है। दुख के लिए यह आवश्यक नहीं कि वह किस का दुख है, हमारा उससे कुछ लगाव भी है या नहीं, वह हमारा मित्र है अथवा शत्रु आदि। पर सुख में इन बातों का ख्याल रहता है। हम अकस्मात् किसी को सुखी देख-कर सुखी नहीं हो जाते। इस दुख में बड़े से बड़े और कठोर से कठोर व्यक्ति को भी हिला देने की शक्ति होती है। इससे पक्षी तक व्याकुल हो जाते हैं। तभी तो नागमती के दुख से—

पिउ सौं कहेहु सँदेसड़ा, हे भौंरा! हे काग!
सोधनि बिरहै जरि मुई, तेहि क धुवाँ हम्ह लाग॥

पत्ती तक झुलस जाते हैं और व्याकुल होकर उसका संदेशा रत्न-सेन तक ले जाने को तैयार होते हैं।

करुणा से ही मनुष्य की प्रकृति में शील और सात्विकता का भाव बना रहता है। कोई किसी के जी को अकारण दुखी नहीं करना चाहता, उसको दूसरे का विचार बना रहता है। इसी भावना से हम दूसरे का उपकार करने में प्रवृत्त होते हैं। यही भावना है जो "परपीड़ा" को पाप समझती है। हमारी श्रद्धा भी उसी व्यक्ति पर जमती है जो किसी दूसरे पर करुणा करता है। अतः हमें शुक्ल जी के स्वर में स्वर मिला कर कहना पड़ता है कि "करुणा का विषय दूसरे का दुख है, अपना दुख नहीं।"

इस करुणा का एक शास्त्रीय पहलू भी है। हमारे यहाँ 'करुण' रस नवरस में से एक है। यह विप्रलंभ श्रृङ्गार की चार दशाओं में से भी एक है जो 'करुण' कही जाती है। पर इस में और करुण रस में भेद बहुत ही सूक्ष्म है यदि कोई भेद हो सकता है तो। इस का स्थायी भाव 'शोक' है। इसका आलम्बन अपने किसी प्रेमी की अपार हानि व मरण है। उसके कष्ट, मृतक दाह कर्म, उस की प्रिय वस्तुओं का दर्शन आदि इसके उद्दीपन हैं। रुदन करना, मूर्छित होना, शिर धुनना, आदि इसके अनुभाव हैं। विलाप करना, पश्चात्ताप करना आदि इसके संचारी भाव हैं। पर यही एक ऐसा रस है जो सहृदयता जागृत करता है। नैराश्य, आकुलता तथा आपत्ति के समय धैर्य रखाने वाला यही करुणा रस है।

कविता का मूल यही करुणा भाव है। आदि कवि वाल्मीकि क्रौंच के जोड़े में से एक को बध किया हुआ देख कर ही विचलित हुए थे। उनकी विचार-धारा अपने हृदय की सारी व्यथा को लेकर निम्न श्लोक में प्रकट हुई थी। यही श्लोक पहली कविता हुई—

मा निषाद प्रतिष्ठांत्वमगमः शाश्वतीः समा।
यत् क्रौंच मिथुनादेकमवधीः काम मोहितम्॥

(हे निषाद तू किसी काल में प्रतिष्ठा न पा सकेगा। तू ने व्यर्थ काम मोहित दो क्रौंचों में से एक को मार डाला)

इसी भाव को पंत ने इस प्रकार व्यक्त किया है—

वियोगी होगा पहला कवि
हृदय से निकला होगा गान,
उमड़ कर आँखों से चुपचाप
बही होगी कविता अनजान।

इस आदि कवि की कविता का आरम्भ इसी करुण भाव से हुआ। पर संस्कृत साहित्य में करुण रस को सर्वोपरि मानने का गौरव केवल भवभूति को प्राप्त है। वह कहता है—

एकोरसः करुण एव निमित्त भेदाद्।
भिन्न : पृथक् पृथगिवाश्रयते विवर्तान्॥
आवर्त्तबुदबुदतरंग मयान् विकारान्।
अम्भो यथा सलिलमेवहि तत् समस्तम्॥

एक करुण रस ही निमित्त भेद से शृंगारादि रसों के रूप में पृथक पृथक प्रतीत होता है। शृंगारादि इस करुण रस के ही विवर्त्त हैं, जैसे भँवर, बुलबुले और तरंग जल के ही विकार हैं। वास्तव में ये सब जल ही हैं, केवल नाम मात्र की भिन्नता है। ऐसा ही सम्बन्ध रसों का एक दूसरे से है। करुण सर्वोपरि है।

अतः कहने का तात्पर्य यह है कि दुख ही वह भाव है जो अपने और पराये का भाव भूल कर दूसरे को दुखी करने की क्षमता रखता है। यही एक ऐसा भाव है जो किसी घेरे में बँध कर नहीं रह सकता। यह मनुष्य को उदार हृदय बनाता है। पर यहाँ यह करुणा शब्द केवल शास्त्रीय अर्थ में ही प्रयुक्त नहीं होगा। इससे उस सामान्य भाव का बोध होगा, जो उदात्त प्रवृत्तियों को जगाता है और जिसमें भेद भाव भुलाने की शक्ति है।

यही करुणा भवभूति के 'उत्तर रामचरित्र' में साकार हो उठी

है। राम का सीता-त्याग अलौकिक अवश्य है, पर मानवीय वृत्तियों को आन्दोलित किए बिना नहीं रह सकता है। राम सीता को

तुव धर्म नित्य प्रजानुरंजन, निज प्रमाद बिहाइ।
तज्जनित जस धन प्रचुर ही, रघुबंस की प्रभुताइ॥

'प्रजानुरंजन' के लिए त्याग देते हैं। उनका हृदय सीता को त्यागने के कारण दुख से परिपूर्ण है, पर राजा के कठोर कर्त्तव्य का पालन स्व को वश में करके उनको करना ही पड़ा है। वे सीता-वियोग से दुखी हैं, उनका हृदय कचोटता है, पर वे कुछ कर नहीं सकते। वाह रे आदर्श! प्रजा का पालक होने के लिए किन किन कष्टों को सहन करना पड़ा। मगर सीता गर्भवती है और जंगल में अकेली मारी मारी फिरती है। कौन ऐसा कठोर हृदय प्राणी होगा जिसका हृदय इन पति-परायणा साध्वी के दुखः से दयार्द्र न हो जाता होगा। सब का हृदय जनक के स्वर में स्वर मिला कर दुखी होते हुए यह कहेगा—

नव दारुन वा अपमान सों तू, निहचै दृग नीरहिं ढारति होइगी।
सिसु होन समै पै सिये बन में, कहुँ बेहद पीड़ा सों आरति होइगी।
घिरि हाय अचानक सिंहन सों, किमि बेबस धीरज धारति होइगी।
करिकें सुधि मेरी डरी हिय में, कहुँ तातहि तात पुकारति होइगी।
—सत्यनारायण

राम के 'वनगमन' से तुलसी ने भी सारी अयोध्या को दुखमय दिखाया है। उनके वियोग-दुख से घोड़े तक व्याकुल हैं। कैसा दुख-पूर्ण समय है। कैसा करुणापूर्ण!

राम राम सिय लखन पुकारी। परेउ धरनितल ब्याकुल भारी॥
देखि दखिन दिशि हय हिहिनाहीं। जनु बिनु पंख विहंग अकुलाहीं॥
नहिं तृन चरहिं, न पियहिं जल, मोचहिं लोचन वारि॥

लक्ष्मण को मेघनाद के हाथ से शक्ति लगी है। राम का धीरज छूट गया। वे पागल से हो जाते हैं। उनके मुँह से उस समय जो उद्गार निकलते हैं वे करुणा का कैसा उद्रेक करते हैं।

जौं जनत्यौं वन बन्धु बिछोहू। पिता बचन नहिं मनतेउँ ओहू ॥
सुत बित नारि भवन परिवारा। होंहिं जाहिं जग बारहिं बारा ॥
अस बिचारि जिय जागहु ताता। मिलहिं न जगत सहोदर भ्राता ॥

× × × ×

अस मम जिवन बन्धु बिनु तोहीं। जौं जड़ दैव जियावै मोहीं ॥
जैहों अवध कवन मुख लाई। नारि हेतु प्रिय बन्धु गँवाई ॥

हमें अपने प्रिय के सुख के अनिश्चय से भी करुणा होती है। इसको ज्ञानवादी 'मोह' कह सकते हैं। पर शुक्ल जी कहते हैं कि "प्रिय के वियोग-जनित दुख में जो करुणा का अंश रहता है उसका विषय प्रिय के सुख का अनिश्चय है।" राम-जानकी के वन जाने पर कौशल्या उन के सुख के अनिश्चय से इस प्रकार दुखी होती हैं—

बन को निकरि गए दोउ भाई।
सावन गरजै, भादों बरसै, पवन चलै पुरवाई।
कौन बिरिछ तर भींजत ह्वै हैं राम लखन दोउ भाई।

प्रेमी को यह विश्वास दिलाना बड़ा कठिन है कि प्रिय का ध्यान जितना वह रखता है उतना और कोई भी रख सकता है। उसे किसी भी प्रकार विश्वास दिलाना कठिन होता है। उसे तो प्रिय को सामने देखने में ही तुष्टि मिलती है। ऐसी ही मनोदशा श्रीकृष्ण के चले जाने पर यशोदा की है। कैसे करुण उद्गार हैं—

प्रात समय उठ माखन रोटी को बिन माँगे दैहै।
को मेरे बालक कुँवर कान्ह को छिन छिन आगे लैहै ?

फिर उद्धव से सँदेशा भेजती है—

संदेसो देवकी सों कहियो।
हौं तो धाय तिहारे सुत की कृपा करत ही रहियो ॥
उबटन, तेल और तातो जल देखत ही भजि जाते।
जोइ जोइ माँगत सोइ सोइ देती क्रम क्रम करि कै न्हाते ॥

तुम तो टेव जानतिहि ह्वै हो, तऊ मोहि कहि आवै ॥
प्रात उठत मेरे लाल लड़ैतहि माखन रोटी भावै ॥
अब यह सूर मोहि निसि बासर बड़ो रहत जिय सोच ।
अब मेरे अलकलड़ैते लालन ह्वै हैं करत संकोच ॥

वियोग की हालत में प्रिय के सुख का अनिश्चय ही नहीं, कभी कभी अनिष्ट की शंका भी होती है—

नदी किनारे धुआँ उठत है, मैं जानूँ कछु होय ।
जिसके कारण मैं जली, वही न जलता होय ॥

"पराधीन सपनेहुँ सुख नाहीं" यह तो सभी जानते हैं। भारत की पराधीनता के दुख से भारतेन्दु को अपार दुख होता है। पराधीनता के कारण देश के लोग कैसे दुखी हैं। उनकी पुकार को सुनने वाला कृष्ण कहाँ हैं ? उस मातृ-भूमि के दुख से वे तिलमिला उठते हैं—

रोअहु सब मिलि कै आवहु भारत भाई ।
हा हा ! भारत दुर्दशा न देखी जाई ॥
सब के पहिले जेहि ईश्वर धन बल दीनो ।
सब के पहले जेहि सभ्य विधाता कीनो ।
सब के पहले जो रूप रंग रस भीनो ।
सब के पहले विद्या फल जिन गहि लीनो ।
अब सब के पीछे सोई परत लखाई ।
हा हा ! भारत दुर्दशा न देखी जाई ॥

× × × ×

अँगरेज राज सुख साज सजे सब भारी ।
पै धन विदेश चलि जात इहै अति ख्वारी ।
ताहू पै महँगी काल रोग विस्तारी ।
दिन-दिन दूने दुख ईस देत हा हा री ।
सब के ऊपर टिक्कस की आफत आई ।
हा हा ! भारत दुर्दशा न देखी जाई ॥

'हरि औध' की यशोदा भी अपने प्राणपति नंद से बार बार पूछती है कि वह मेरा सर्वस्व कहाँ है। मैं अब उसके बिना नहीं जी सकूँगी। उसके मुख से कैसी करुण पुकार सुनाई दे रही है।

प्रिय पति मेरा प्राणप्यारा कहाँ है,
दुखजलनिधि डूबी का सहारा कहाँ है।
लख मुख जिसका मैं आज लौं जी सकी हूं,
वह हृदय हमारा नैन तारा कहाँ है,
पल-पल जिसके मैं पंथ को देखती थी,
निशि-दिन जिसके ही ध्यान में थी बिताती।
उर पर जिसके है सोहती मुक्तमाला,
वह नव नलिनी से नैनवाला कहाँ है।

× × × ×

परम पतित मेरे पातकी प्राण ए हैं,
यदि नहीं अब भी हैं गात को त्याग देते।
अहह ! दिन न जाने कौन सा देखने को,
दुखमय तन में ए निर्ममों से रुके हैं।

कौन नहीं जानता कि अयोध्या के राजा सत्यवादी हरिश्चन्द्र के दुखों का ठिकाना नहीं था। पर वे अविचल थे, दृढ़ थे और थे कर्त्तव्यशील। उनके पुत्र की मृत्यु हो गई है। एक मात्र पुत्र की ! शैव्या रो रही है। श्मशान का दृश्य कैसा करुणामय है। कौन ऐसा कठोर हृदय होगा जो हरिश्चन्द्र और शैव्या के दुखों को देखकर रोया न हो। शैव्या के दुख की झाँकी करुणा से ओत-प्रोत है—

खड़ी शैव्या वहीं पर रो रही थी,
फटी दो टूक छाती हो रही थी।
कलेजा हाय ! मुँह को आ रहा था,
भरा था दर्द वह, तड़पा रहा था।

"छुटा घर-बार प्राणाधार छूटे,
रहे तुम एक कुल आधार छूटे।
तुम्हारा देख कर मुख जी रही थी,
नहीं तो कौन था सुख, जी रही थी।
छुटा सब कुछ छूटे हा! लाल तुम भी,
लुटा सब कुछ लुटे हा! लाल तुम भी।
अरे वह है कहाँ पर सर्प बसता,
मुझे भी क्यों नहीं है नीच डसता।
लगाये लाल को छाती चलूँ मैं,
लिए यह साथ ही थाती चलूँ मैं।
जिसे मैं जान ही सा जानती थी,
जिसे मैं देख कर सुख मानती थी।
कहाँ है हाय! अब वह प्राण मेरा,
निराशा में विपद् में त्राण मेरा।
कहाँ हो चल दिए तुम हाय छौना,
खिलाऊँगी किसे मेरे खिलौना।
—गयाप्रसाद शुक्ल (सनेही)

उत्तरा का वीर, पराक्रमी पति मारा गया है। उत्तरा गर्भवती है। उत्तरा के उद्गारों में सारी पृथ्वी को कंपा देने वाली तथा करुणा से द्रवित करने वाली कैसी शक्ति है—

प्राणेश शव के निकट जाकर चरम दुख सहती हुई।
वह नववधू फिर गिर पड़ी "हा नाथ! हा!" कहती हुई।
× × × ×
फिर पीटकर सिर और छाती अश्रु बरसाती हुई।
कुररी सदृश सकरुण गिरा से दैन्य दरसाती हुई।
बहु विधि विलाप-प्रलाप वह करने लगी उस शोक में।
निज प्रिय वियोग समान दुख होता न कोई लोक में।
—जयद्रथ-बध

उत्तरा का विलाप बड़ा मर्मभेदी है। अतीत सुखद स्मृतियों की कसक से वह तो॰ की तरह लगता है—

मैं हूँ वही जिसका हुआ था ग्रंथि-बन्धन साथ में
मैं हूँ वही जिसका लिया था हाथ अपने हाथ में।
मैं हूँ वही जिसको किया था विधि-विहित अर्द्धाङ्गिनी
भूलो न मुझको नाथ, हूँ मैं अनुचरी चिर-संगिनी।

'मैं हूँ वही' शब्द इसमें कितने कारुणिक हैं।

'यशोधरा' को बुद्ध सोता हुआ छोड़कर चले जाते हैं। यशोधरा काव्य ही करुण रस का अनवरत प्रवाह है। इस काव्य की सारी करुणा एक ही वाक्य में—

अबला-जीवन! हाय तुम्हारी यही कहानी
आँचल में है दूध और आँखों में पानी।

उँडेल दी है।

यशोधरा की करुणा उर्मिला की करुणा से अधिक घनीभूत और उदात्त है। उर्मिला को पता है कि लक्ष्मण १४ वर्ष बाद लौट आवेंगे। पर बेचारी यशोधरा! उसके दुख का कोई अन्त ही नहीं। बुद्ध उसको उस पर भी सोता छोड़ कर चले गये थे। इससे उसके आत्म-सम्मान को गहरी चोट लगती है—

सिद्धि-हेतु स्वामी गए, यह गौरव की बात
पर चोरी चोरी गए, यही बड़ा व्याघात।

किसी तरह वह अपने मन को सांत्वना देती है—

अब कठोर हो वज्रादपि ओ कुसुमादपि सुकुमारी!
आर्यपुत्र दे चुके परीक्षा अब है मेरी बारी!

यशोधरा को क्षोभ तो यह है कि बुद्ध ने उसको मोम की तरह कोमल समझा। उन्होंने उसके क्षत्राणी रूप का तिरस्कार किया—

स्वयं सुसज्जित करके क्षण में
प्रियतम को प्राणों के पण में
हमीं भेज देती हैं रण में
क्षात्र-धर्म के नाते !

सिद्धार्थ के घर लौटने पर भी यशोधरा उनके स्वागत के लिए जाने से मना कर देती है। मनोवैज्ञानिकता से भरे उसके अमर उद्गार कितने करुण, कितने मर्मस्पर्शी हैं !

बाधा तो यही है, मुझे बाधा नहीं कोई भी !
विघ्न भी यही है, जहाँ जाने से जगत में
कोई मुझे रोक नहीं सकता है—धर्म से
फिर भी जहाँ मैं, आप इच्छा रहते हुए
जाने नहीं पाती ! यदि पाती तो कभी यहाँ
बैठी रहती मैं ? छान डालती धरित्री को।
सिंहनी-सी काननों में, योगिनी-सी शैलों में,
शफरी-सी जल में, विहंगिनी-सी व्योम में
जाती तभी और उन्हें खोज कर लाती मैं !
मेरा सुधा-सिन्धु मेरे सामने ही आज तो
लहरा रहा है, किन्तु पार पर मैं पड़ी,
प्यासी मरती हूँ ! हाय ! इतना अभाग्य भी
भव में किसी का हुआ ? कोई कहीं ज्ञाता हो,
तो मुझे बता दे हा ! बता दे हा ! बता दे हा !

यशोधरा के मातृत्व और पत्नित्व में बराबर संघर्ष होता है। उसका अन्तर्द्वन्द्व कैसा कारुणिक है। उसको रोने और हँसने का मजा साफ साफ आता है—राहुल कह ही तो देता है—

गाती है मेरे लिए, रोती उनके अर्थ
हम दोनों के बीच तू पागल सी असमर्थ
रोना गाना बस यही, जीवन के दो अंग
एक संग में ले रही, दोनों का रस रंग।

यशोधरा 'हाँ' कर देती है—

रुदन का हँसना ही तो गान,
गा गाकर रोती है मेरी हृत्तन्त्री की तान।

कैकयी कैसी करुणामूर्त्ति है। जिसको हम कठोर समझे, जिसको भरत सदृश पुत्र ने डाँटा-फटकारा, जो अपने पति की मृत्यु का कारण हुई, जिसने भरत से भी प्रिय राम को वन भेजा, वही कैकयी कैसी मनस्ताप से व्याकुल है। कैसे करुणा से भरे उद्गार हैं—

हाँ जनका भी मैंने न भरत को जाना
सब सुन लें, तुमने स्वयं अभी यह माना।
यह सच है तो फिर लौट चलो घर भैया
अपराधिन मैं हूँ तात, तुम्हारी मैया।

× × × ×

थूके, मुझ पर त्रैलोक्य भले ही थूके
जो कोई जो कह सके, कहे, क्यों चूके?
छीने न मातृ-पद किन्तु भरत का मुझसे
रे राम, दुहाई करूँ और क्या तुझ से?

इसी आत्मग्लानि में वे कहती हैं—

युग युग तक चलती रहे कठोर कहानी—
'रघुकुल में थी एक अभागिन रानी।'

करुणा का कैसा महात्म्य है, हृदय को सराबोर कर देता है। जिसको एक बार घृणा करते थे उसको दुखी और ग्लानि से भरा देख कर हम उसके प्रति दया और करुणा से भर जाते हैं।

जैसा मैंने ऊपर कहा था कि करुणा का प्रसार बड़ा व्यापक है। पर आधुनिक 'करुणावाद' के मूल में बुद्ध का दार्शिनिक दुखवाद और क्षणिकवाद है। सारी सृष्टि में ही करुणा का प्रसार करना इसका उद्देश्य है। ऊपर लिखे उदाहरणों में दर्शन का वह दुखवाद नहीं। उसमें व्यक्तिगत दुख का सन्निवेश है। यह ठीक है कि वह दुख अपने में प्राणीमात्र को दुखी और करुणामय करने की क्षमता रखता है।

उसमें दार्शनिक पक्ष उस रूप में नहीं है जिस रूप में प्रसाद या महादेवी में। इनमें तो 'करुणा' एक दर्शन का रूप लेकर चित्रित हुई है। यहाँ करुणा आधुनिक विचारों का मूर्तिमान रूप है। विश्वमैत्री और सह-वेदन ही करुणा के रूप हैं। जिनमें ये भाव नहीं, वे पशु हो सकते हैं मनुष्य नहीं। यह सारी सृष्टि ही "मानवी सृष्टि करुणा के लिए है। यों तो क्रूरता के प्रदर्शन के लिए हिंस्र पशु जगत में क्या कम हैं?" (अजात शत्रु) जब मनुष्य विश्वमैत्री और करुणा के भावों से अपने कार्य को करेगा तो सारा जगत ही उसके लिए कुटुम्बवत् हो जायगा।

"विश्व के कल्याण में अग्रसर हो। असंख्य दुखी जीवों को हमारी सेवा की आवश्यकता है। इस दुख-समुद्र में कूद पड़ो। यदि एक भी रोते हृदय को तुमने हँसा दिया तो सहस्रों स्वर्ग तुम्हारे अंतर में विकसित होंगे। फिर तुमको परदुख-कातरता में ही आनन्द मिलेगा। विश्वमैत्री हो जायगी—विश्व भर अपना कुटुम्ब दिखाई पड़ेगा। उठो असंख्य आहें तुम्हारे उद्योग से अट्टहास में परिणत हो सकती हैं।" 'अजातशत्रु' में गौतम स्वयं अपने मुख से मागन्धी को यह उपदेश दे रहे हैं। विश्वमैत्री का प्रसार करुणा ही कर सकती है। दुखी मानवता को करुणा की ही आवश्यकता है। क्षणिक सुखों में लिप्त मानवता को करुणा से जागृत किया जा सकता है।

गौतम के मुँह से ही जीवक से कहा हुआ हाल सुनिये। गौतम स्वयं कहते हैं कि सब नश्वर है, क्षणिक है, किसी भी सुख में स्थायित्व नहीं—

चंचल चन्द्र, सूर्य है चंचल,
चपल सभी ग्रह तारा है।
चंचल अनिल, अनल, जल, थल, सब,
चंचल जैसे पारा है।
जगत प्रगति से अपने चंचल,
मन की चंचल लीला है।

प्रतिक्षण प्रकृति चंचला जैसी,
यह परिवर्तनशीला है ।
अणु-परमाणु, दुख-सुख चंचल,
क्षणिक सब सुख साधन है ।
दृश्य सकल नश्वर-परिणामी,
किसको दुख, किसको धन है ।
क्षणिक सुखों को स्थायी कहना
दुख मूल यह भूल महा ।
चंचल मानव ! क्यों भूला तू,
इस सीढ़ी में सार कहाँ ?

बस मानव विश्व की इस क्षण-भंगुरता से परिचित हो जाये तो उसके हृदय में सात्विक वैराग्य हो जाय । फिर परदुखकातर होकर लोकहित ही उसका हित हो जाये—

न धरो कहकर इसको 'अपना' ।
यह दो दिन का है सपना ॥ न धरो.......
वैभव का बरसाती नाला, भरा पहाड़ी झरना ।
बहो, बहाओ नहीं अन्य को, जिससे पड़े कलपना ॥ न धरो० ॥
दुखियों का कुछ आँसू पोंछ लो, पड़े न आहें भरना ।
लोभ छोड़कर हो उदार, बस एक उसी को जपना ॥ न धरो० ॥

संसार दुखपूर्ण अवश्य है, पर हर एक वैरागी नहीं हो जाता । ईश्वर दुख को सहने की शक्ति देता है । जो दुख को देखकर एक बार ही लड़खड़ा जाते हैं उनको भी ईश्वर की करुणा सँभाल सकती है । दिवाकर मित्र कहता है "क्षणिक संसार ! इस महाशून्य में तेरा इन्द्र-जाल किसे नहीं भ्रांत करता । मैंने बहुत दिनों तक शास्त्रों का अध्ययन किया, पंडितों को परास्त किया, तर्क में कितनों का मुँह बन्द कर दिया, परन्तु क्या मन को शान्ति मिली ? नहीं । तब ?—भगवान की करुणा का अवलम्ब शेष है । करुणे ! इस दुखपूर्ण धरणी को अपनी गोद में चरकालिक शान्ति दे, विश्राम दे ।"

मह करुणा ही संसार का सूत्रधार है। यह प्रकृति और मानव के व्यापारों में एक सार्वभौम सहानुभूति की भावना है। पाशविकता के ऊपर करुणा (मानवीयता) की विजय ही मानव संस्कृति का मूल-मन्त्र है। यह करुणा ही सब कुछ कर सकती है—

गोधूली के रागपटलं में स्नेहांचल फहराती है।
स्निग्ध उषा के शुभ्र गगन में हास-विलास दिखाती है॥
मुग्ध मधुर बालक के मुख पर चन्द्रकान्ति दरसाती है।
निर्निमेष ताराओं से वह ओस-बिन्दु भर लाती है॥
निष्ठुर आदि-सृष्टि पशुओं की विजित हुई इन करुणा से।
मानव का महत्त्व जगती में फैला अरुणा करुणा से॥

यह करुणा ही सृष्टि के विकास का मूल है—

दाता, सुमति दीजिए।
मानव-हृदय-भूमि करुणा से सींचकर
बोधन-विवेक बीज अंकुरित कीजिए॥

यही करुणा युग-युग से मनुष्य का विकास करती चली आ रही है।

महादेवी की आँखों में अनन्त काल से इतना आँसू बह पड़ा है कि उस आँसू-राशि में 'मधुर पीर' की सुगन्धि लेकर सैकड़ों नीरज फूट पड़े हैं—

प्रिय! इन नयनों का अश्रुनीर
दुख से आविल सुख से पंकिल
बुद्बुद-से स्वप्नों से फेनिल
बहता है युग-युग से अधीर

× × × ×

इसमें उपजा यह नीरज सित
कोमल कोमल लज्जित मीलित
सौरभ-सी लेकर मधुर पीर।

(नीरजा)

महादेवी में वेदना है उनमें करुणा है। विनयमोहन जी कहते हैं—"महादेवी को दुख का वह रूप प्रिय है जो मनुष्य के संवेदनशील हृदय को सारे संसार के एक अविच्छिन्न बन्धन में बाँध देता है और उसका वह रूप भी काल और सीमा के बन्धन में पड़े हुए असीम चेतन का क्रन्दन है। दूसरे शब्दों में व्यष्टि और समिष्ट दोनों का दुख उन्हें प्रिय है। हम महादेवी को कलाकार कवियत्री मानते हैं। यदि उनकी कविता को किसी वाद से ही बाँधना हो तो उसे दुखवाद से अमिहित कर सकते हैं।" उनका जीवन स्वयं पीड़ा से सिक्त है—

"चिंता क्या है हे निर्मम
बुझ जाये दीपक मेरा
हो जायेगा तेरा ही
पीड़ा का राज्य अँधेरा॥"

महादेवी बुद्ध के दुखवाद को स्वीकार करती हैं। जगत को अनित्य मानती हैं। आत्मा को नित्य स्वीकार करती हैं। आत्मा तभी तक अमर है जब तक ईश्वर में उसका विलय नहीं होता। वे कहती हैं—

"जब असीम से हो जायगा
मेरा लघु सीमा का मेल
देखोगे तब देव! अमरता
खेलेगी मिटने का खेल।"

मृत्यु को वे जीवन का चरम विकास मानती हैं। वे कहती हैं—

"स्निग्ध अपना जीवन कर क्षार
दीप करता आलोक प्रसार
जला कर मृत पिंडों में प्राण
बीज करता असंख्य निर्माण,
सृष्टि का है यह अमिट विधान
एक मिटने में सौ वरदान।"

महादेवी का काव्य बुद्ध के दुखवाद और अभाव से प्रभावित है। वे परोक्ष प्रिय के लिए अहर्निश आतुर होती हैं—

"प्रिय चिरंतन है सजन
क्षण-क्षण नवीन सुहागिनी मैं।"

करुणा में वह शक्ति है, जिससे हम मानव मात्र को अपना समझ सकते हैं। यही मानव हृदय के विकास का चिन्ह है।

अहिंसावाद

मानवता के इतिहास में अहिंसा के आदर्शों पर सबसे अधिक ज़ोर दिया गया है। शैतानियत तथा अन्याय को दूर करने का ठीक रास्ता अहिंसा ही है। भारत के समस्त धर्मों में अहिंसा को मनुष्य का सबसे बड़ा कर्त्तव्य माना गया है और कहा है—

'अथ यत्तपो दानमार्जवमहिंसा, सत्यवचनमिति ता अस्य दक्षिणाः।'

—छान्दोग्य ३।१७॥

अर्थात् मनुष्य के बलिदानमय जीवन के लिए तप, दान, आर्जव, अहिंसा तथा सत्य वचन आदि पाँच वस्तुएँ दक्षिणा के समान हैं।

पतंजलि के योग सूत्र में भी अहिंसा की श्रेष्ठता बतलाते हुए कहा गया है "अहिंसा प्रतिष्ठायान्तत्सन्निधौ वैरत्यागः" अर्थात् जैसे ही अहिंसा का पूर्ण विकास होता है चारों ओर का वैर-भाव लोप हो जाता है। इसलिए मनुष्यों को जानवरों तथा अन्य जीव-धारियों के साथ अहिंसात्मक बर्ताव करना चाहिए। महाभारत में भी प्रत्यक्ष रूप से अहिंसा के सिद्धान्त के बारे में कहा गया है। "कठोर और नम्र दोनों को नम्र जीत लेता है। नम्र के लिए कुछ भी असम्भव नहीं है। इसीलिए नम्र कठोर से अधिक शक्तिशाली है।" इसी प्रकार गीता में थोड़ा बहुत अहिंसा के बारे में प्रत्यक्ष रूप से कहा गया है, हालाँकि लोग इसके बारे में विभिन्न मत रखते हैं। जैन दर्शन में तो अहिंसा के सिद्धान्त को प्रमुख स्थान ही दिया गया है। सम्यक चारित्र्य में पंच व्रतों का वर्णन है जिनमें

सर्व प्रथम अहिंसा है तथा अन्य चार सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह तथा ब्रह्मचर्य हैं। बौद्ध धर्म में अहिंसा को नैतिक शिक्षा के रूप में माना गया है जिसका आधार उपनिषदों में वर्णित नैतिक सिद्धान्तों का व्यावहारिक प्रयोग है। इस प्रकार भारतवासी प्राचीन काल से ही अन्याय का प्रतिरोध करने के अहिंसात्मक मार्ग से परिचित रहे हैं जिसके मुख्य रूप धरना देना, आमरण उपवास करना तथा सविनय आज्ञा-भंग करना हैं।

अहिंसा का दार्शनिक आधार

आधुनिक युग में महात्मा गाँधी अहिंसा दर्शन के मुख्य प्रवर्त्तक हैं। आपने जनता के समक्ष अहिंसा के सिद्धान्त को इतने बड़े प्रयोगात्मक रूप में सर्व-प्रथम रखा। यही नहीं आपने इस दर्शन के आधार पर जो अपने दैनिक जीवन में प्रयोग किए और जो सफलता प्राप्त की वह अद्वितीय है। महात्मा बुद्ध ने लोगों को जो चार प्रमुख सत्य बताए थे उनमें अहिंसा की बात विशेष रूप से बताई थी। महात्मा बुद्ध की शिक्षा में अहिंसा का आदर्श इस प्रकार है—

"जिस प्रकार माता जीवन पर्यन्त अपने एक-मात्र पुत्र की देख-रेख करती है, उसी तरह हमें संसार के छोटे बड़े सब जीवों के लिए अपने हृदय और बुद्धि को विशाल बना कर और द्वेष और दुर्भावना की संकीर्णता का अतिक्रमण करके प्रेम का व्यवहार करना चाहिए।"

—सुत्त निपात—डा० राधाकृष्णन के आधार पर उद्धरित

अहिंसा के दार्शनिक सिद्धान्तों को समझने के लिए यह समझना आवश्यक है कि महात्मा गाँधी पर किन-किन विचारकों तथा विद्वानों का प्रभाव पड़ा है। इसके अलावा महात्मा जी पर यथेष्ट मात्रा में कुछ पुस्तकों का भी प्रभाव पड़ा है।

गीता—जिन पुस्तकों का महात्मा गाँधी पर प्रभाव पड़ा है

उनमें सबसे प्रमुख श्रीमद्‌भागवत गीता है। गाँधी जी गीता के बारे में स्वयं कहते हैं 'जो शान्ति मुझको भगवद् गीता और उपनिषदों से मिलती है, वह ईसाई धर्म की 'पर्वत की धर्म-शिक्षा' से नहीं मिलती। जब मैं संशयों और निराशाओं से घिरा होता हूँ, और मुझे क्षितिज पर एक भी प्रकाश-रश्मि नहीं दिखाई देती, तब मैं भगवद् गीता की ओर मुड़ता हूँ और मुझे आश्वासन के लिए एक न एक श्लोक मिल ही जाता है।"

वास्तव में गीता संसार के दर्शन की सबसे बड़ी पुस्तक है। उसका प्रतिपाद्य विषय क्या है, सूक्ति-रूप में कहना असंभव सा है। कुछ पाठक कहते हैं कि भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन को युद्ध करने का उपदेश देते हैं जिसके द्वारा वह हिंसा करने के उपदेश का समर्थन करते हैं। कुछ लोग इसके विपरीत कहते हैं। पर वास्तव में गीता में न तो युद्ध करने के लिए ही कहा गया है और न न करने के लिए ही। गीता में सर्वप्रथम आत्म-दर्शन कराया गया है और आत्म-दर्शन करने के साधनों का परिचय कराया गया है। उसका मुख्य आदर्श उसके दूसरे तथा अठाहरवें अध्याय में मिलता है। वह है 'अनासक्ति योग।' गाँधी जी के लिए दूसरे अध्याय के अन्तिम १६ श्लोक तथा संपूर्ण १८ वाँ अध्याय ज्ञान की कुञ्जी हैं। इनमें उस आदर्श-पुरुष का वर्णन है जो स्थित-प्रज्ञ तथा अहिंसक है। वह अहिंसक केवल इसलिए है कि हिंसा केवल किसी किए गए कार्य के फल की कामना के कारण की जाती है। जब वह अनासक्ति भाव से कार्य करता है अर्थात् फल की कोई कामना नहीं करता है तो हिंसा का भाव कभी उदय हो ही नहीं सकता। इसीलिए महात्मा गाँधी के अनुसार अनासक्ति भाव के लिए अहिंसक व्यवहार परमावश्यक है।

इस प्रकार गीता में प्रतिपादित 'अनासक्ति योग' अप्रत्यक्ष-रूप से अहिंसात्मक व्यवहार की उपयोगिता स्वीकार करता है।

जैन तथा बौद्ध धर्म की अहिंसा—ब्राह्मण धर्म की जटिलताओं, विस्तृत धार्मिक क्रियाओं तथा बलिदान की हिंसा (वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति) के विरुद्ध क्रान्तिकारी विद्रोह जैन तथा बौद्ध मत के अनुयायियों ने किया। जैन लोगों ने अहिंसा का सिद्धान्त प्रमुख रूप से अपनाया। जैनों का विश्वास है कि 'दुख का कारण आत्मा का भौतिक शरीर से सम्बन्ध है। आत्मा को भी कष्ट मिलता है। शरीर के बन्धन से छुटकारा पाने के लिए यह आवश्यक है कि व्यक्ति कर्मों के बंधन से छूट जाय, इसके साधन 'त्रिरत्न' के नाम से प्रसिद्ध हैं। जो सम्यक चारित्र्य, सम्यक दर्शन तथा सम्यक ज्ञान हैं। सम्यक चरित्र में अहिंसा प्रमुख है। जैन धर्म में लोगों को कम से कम कार्य करने की बात बताई जाती है क्योंकि जीवन के प्रत्येक व्यवहार में हिंसा होती है। अहिंसा का अर्थ पूर्ण-रूप से निषेधात्मक (Prohbitive) हो गया जो सी० एफ० एण्ड्रूज के शब्दों में 'अहिंसा इतना भारी बोझ हो गया है कि मानवता के लिए उसे उठाना भारी हो गया।' जैन मत का सबसे अधिक प्रभाव महात्मा गाँधी के जन्म-स्थान के प्रान्त में पड़ा और बाल्यकाल में वे कुछ जैन साधुओं के सम्पर्क में भी आए। गाँधी जी जैन धर्म द्वारा प्रचारित अहिंसा को स्वीकार नहीं करते जो निषेधात्मक है। बौद्ध धम ने अहिंसा को निषेधात्मक-रूप में स्वीकार नहीं किया है वरन् उनके यहाँ भिक्षुओं के दस 'शिक्षापदों' तथा गृहस्थों की 'पञ्च शिलाओं' में इसका पहला स्थान है। गौतम बुद्ध के अनुसार 'द्वेष का अन्त द्वेष से नहीं वरन् प्रेम से होता है।...दूसरों का नेतृत्व हिंसा से नहीं ईमानदारी और अन्याय से करो। वे यह बात नहीं मानते थे कि जो मनुष्य शान्ति रखने के सब साधनों के उपयोग के बाद न्याय-पूर्ण कारणों से युद्ध करता है वह दोषी है। वे अनैतिकता के प्रति आत्म-समर्पण करने के विरोध में थे। बुद्ध का अहिंसा का सिद्धान्त 'द्वेष का अन्त प्रेम से करो' मानवता के लिए बड़ा ही शुभ संदेश था। सम्राट अशोक ने

अहिंसा को स्वीकार करके विश्व में अपना नाम अमर कर लिया। एच० जी० वेल्स के शब्दों में "वे ही एकमात्र योद्धा शासक थे जिन्होंने विजय के बाद युद्ध को त्याग दिया।"

अन्य धर्मों में अहिंसा—जन-साधारण-की यह धारणा होती जा रही है कि इस्लाम धर्म का हिंसा और बल-प्रयोग से साहचर्य है। लेकिन मुहम्मद साहब की शिक्षा यह नहीं है। इस्लाम शब्द का अर्थ है 'शान्ति' और मुसलमानों का अभिवादन-शब्द 'अस्सलामा-लेकुम, का अर्थ है 'आप शान्ति से रहें।' मुहम्मद शाहब की शिक्षा थी 'किसी भी जानदार के साथ, चाहे वह पशु हो या पक्षी, निर्दयता नहीं करनी चाहिए, क्योंकि सभी इस जीवन के बाद खुदा के पास वापस जायँगे।' कुरान—६-३८॥ आप कहते हैं 'बुराई को उस तरीके से हटाओ जो बुराई से अधिक अच्छा हो।'

ईसाई धर्म में भी प्रेम का नियम बताया है। ईसा मसीह की शिक्षाओं का महात्मा गाँधी पर बड़ा प्रभाव पड़ा। गीता ने आपकी मान्यताओं को गहरा बनाया और टालसटाय की पुस्तक' दी किंगडम ऑफ गॉडइज़ विदिन यू' (The Kingdom of god is within you) ने गीता की मान्यताओं को स्थिर रूप दिया। ईसा मसीह की शिक्षा का आधार 'भगवान की सार्वभौम प्रेम-पूर्ण पितृत्व और मानवता के भ्रातृत्व की भावना है।" 'पर्वत की धर्म शिक्षा' में वे कहते हैं 'तुमने सुना है कि यह कहा गया है कि आँख का बदला आँख और दाँत का दाँत है।"

"लेकिन मैं तुमसे कहता हूँ कि तुम बुराई का (हिंसा से) प्रतिरोध न करो, लेकिन जो कोई तुम्हारे दाहिने गाल पर थप्पड़ मारे, उसकी ओर बाँया भी कर दो।"

अहिंसात्मक प्रतिरोध का सबसे बड़ा उदाहरण हमें ईसा पर चलाए गए मुकद्मे से मिलता है। उन्होंने प्रार्थना की 'पिता, उन्हें क्षमा कर, क्योंकि वे नहीं जानते कि वे क्या कर रहे हैं।" एच०

जी० वेल्स के शब्दों में इससे तत्कालीन समाज में अहिंसात्मक प्रतिरोध का सार्वभौमिक प्रचार मिलता है। "ईसा के प्रति किए गए विरोध से और उनके मुकदमें और उनकी सज़ा की परिस्थिति से यह स्पष्ट है कि उनके समकालीन मनुष्यों के लिए ईसा की शिक्षा का अर्थ मानव जीवन के सब क्षेत्रों में आमूल परिवर्तन था।"

पर ईसा के अनुयायियों ने आगे चल कर धर्म-युद्ध किए क्योंकि बाद में ईसा की शिक्षा का महत्व बतलाने वाला और कोई पैगम्बर नहीं हुआ। मध्यकालीन यूरोप में ईसाई चर्च ने धर्म-युद्ध की महत्ता बताई। सोलहवीं शताब्दी में इरेसमस तथा एटीं दलाबोती ने हिंसा के प्रति आवाज उठाई! क्वेकर लोगों का कहना है 'यह प्रयत्न करना चाहिए कि राजनीति आध्यात्मिकता के रंग में रंग जाय और उसकी हिंसा दूर हो जाय और राज्य का संचालन अहिंसा मार्ग से हो।" उन्होंने १६८२ ई० में पंचायती राज्य की स्थापना की जो क्वेकर राज्य के नाम से प्रसिद्ध है। क्वेकर्स का यह प्रयोग ७० वर्ष तक चलता रहा और संसार के सभी लोगों को अहिंसा की ओर ले जाता रहा।

गाँधी जी पर प्रभाव डालने वाले व्यक्तियों में हेनरी डेविड थोरो हैं। रस्किन की (Unto The Last) 'अनटू दी लास्ट' से गाँधी जी को तीन शिक्षाएँ मिलीं—

(१) व्यक्ति का हित सर्वहित में सम्मिलित है।

(२) सबको अपने कार्य से जीवकोपार्जन करने का अधिकार है।

(३) परिश्रम का जीवन अर्थात् किसान का और मज्दूर का जीवन ही मनुष्योचित जीवन है।

टालसटाय का तत्व-दर्शन आजकल के राजनैतिक और सामाजिक प्रयत्नों के हल करने के लिए 'पर्वत के धर्म-शिक्षण' जैसा

कार्य करता है। आपका विश्वास है कि संसार को सुखी बनाने का एकमात्र मार्ग संसार में ऐसी परिस्थिति पैदा करना है जिससे सभी अपनी अपेक्षा दूसरों से अधिक प्रेम कर सकें। किसी भी जीवधारी पर किसी प्रकार का बल-प्रयोग, या जबरदस्ती अपनी इच्छा के अनुसार उसको चलाना, एक अपराध है। टाल्सटाय ने ७ सितम्बर १६१० ई० को गाँधी जी के नाम पत्र में कहा है—

"सब प्रकार के हिंसात्मक विरोध के मार्ग के त्याग का अर्थ है······भ्रमपूर्ण युक्तियों से अदूषित प्रेम का नियम। वास्तव में जीवन का उच्चतम या एकमात्र नियम है, प्रेम; या दूसरे शब्दों में मनुष्यों की आत्माओं का एकत्व की ओर प्रयास और उस (प्रयास) से उत्पन्न एक-दूसरे के प्रति विनम्र व्यवहार। जीवन के सर्व-श्रेष्ठ नियम के रूप में प्रेम से किसी भी प्रकार का बल-प्रयोग मेल नहीं खाता। जैसे ही बल-प्रयोग का औचित्य एक मामले में भी मान लिया जाता है, फौरन इस (प्रेम के) नियम का निषेध हो जाता है। —टाल्सटाय 'एसेज एण्ड लेटर्स;

गाँधी जी ने टाल्सटाय की (The Kingdom of God is Within you) नामक पुस्तक को पढ़ कर कहा "अध्ययन ने मेरे संशयवाद को दूर कर दिया और मुझको अहिंसा में दृढ़ विश्वास करने वाला बना दिया।" गांधी जी की अहिंसा तथा टाल्सटाय की अहिंसा में थोड़ा फर्क है। टाल्सटाय के अनुसार अहिंसा 'दूसरे के प्रति किसी भी प्रकार का बल-प्रयोग न करना है' और गाँधी जी के अनुसार 'किसी जीवधारी को क्रोध से या स्वार्थ-पूर्ण हेतु से चोट या तकलीफ न पहुँचाना।' कुछ परिस्थितियों में गाँधी-जी के अनुसार जान लेना भी अहिंसा हो सकती है, क्योंकि गाँधी जी प्रेरक हेतु पर अधिक जोर देते हैं। गाँधी जी गीता के निष्काम कर्म के आदर्श के अनुगामी रहे और जीवन के कार्यों में बड़े मनोयोग से भाग लेते रहे।

गाँधी जी ने इस प्रकार संसार के प्रायः सब बड़े तत्व-दर्शन-वेत्ताओं के अहिंसा के विचारों का अध्ययन किया तथा उनका प्रयोग देश-व्यापी जन-आन्दोलनों में किया। उन्होंने यह सत्याग्रह द्वारा किया। इनके अनुसार "अहिंसा सब परिस्थितियों में कारगर सार्वभौम नियम है। उसका त्याग विनाश का सबसे निश्चित मार्ग है।"

सत्य, ईश्वर और अहिंसा—गाँधी जी के लिए सत्य की खोज सबसे बड़ी जिज्ञासा है और सत्य की खोज बिना अहिंसा हो ही नहीं सकती। अहिंसा सम्पूर्ण धर्म की जान है। 'अहिंसा और सत्य इतने ही ओत-प्रोत हैं जितने सिक्के के दोनों बाजू।' उनको अलग अलग करना कठिन है। बिना सत्य के (शुद्ध) प्रेम नहीं होता; बिना सत्य के ऐसा देश-प्रेम हो सकता है जिससे दूसरों को हानि पहुँचे।

'अहिंसा सर्व-शक्तिमान एवं असीम है और ईश्वर का समानार्थक है।' यह हमारे अन्दर रहने वाली ईश्वरीय शक्ति है। इसका सम्बन्ध हृदय से है बुद्धि से नहीं। यह अहिंसा सर्वकालीन और सर्वव्यापक नियम है जिसका जीवन की प्रत्येक परिस्थिति में बिना किसी अपवाद (Exception) के प्रयोग हो सकता है।

अहिंसा तीन प्रकार की होती है। पहली अहिंसा उच्चतम है जो वीरों की अहिंसा कहलाती है। इस अहिंसा को मनुष्य संकट में लाचार होकर नहीं वरन् नैतिक विवेचना पर आधारित आन्तरिक विश्वास के कारण ग्रहण करता है। जब हिंसा असह्य हो जाती है तब अहिंसा का मार्ग अपनाया जाता है। इस प्रकार की अहिंसा को ग्रहण करने वाला उसको छोड़ने की अपेक्षा सब कुछ छोड़ने के लिए तैयार रहता है और उसकी आस्था अटल होती है।

दूसरी अहिंसा काम चलाऊ व्यावहारिक अहिंसा है। यह केवल उचित नीति की तरह स्वीकार की जाती है। यदि इस प्रकार की अहिंसा का प्रयोग इमानदारी के आधार पर होता है तो इसका परिणाम अच्छा होता है। भारत में कांग्रेस व्यावहारिक अहिंसा पर ही चली और गाँधी जी ने कई बार वीरों की अहिंसा (नैतिकता के आधार वाली) लाने का प्रयास किया, परन्तु असफल रहे।

तीसरे प्रकार की अहिंसा कायरता की अहिंसा है। यह प्रतिरोध कायर लोगों का है। कायर विपक्षी से घृणा करता है और उसे अधिक से अधिक हानि पहुँचाना चाहता है परन्तु उसमें न मरने की शक्ति है न मारने की। कायर न तो अपनी शक्ति में विश्वास करता है और न ईश्वरीय शक्ति में। उसका हिंसा का ढोंग करना हिंसा का निष्क्रय स्वरूप है और सत्य के प्रति अपराध है। इस प्रकार के कायर से किसी प्रकार की आशा नहीं की जा सकती। हिंसक व्यक्ति तो किसी दिन अहिंसक बन सकता है, लेकिन कायर से तो ऐसी आशा नहीं की जा सकती।

अहिंसा में आत्म-बल है और इसी कारण अहिंसा, हिंसा के भौतिक बल से कहीं अधिक शक्तिशालिनी है। जिस मनुष्य में उच्च कोटि का साहस नहीं है उसे गाँधी जी खतरे से भागने की अपेक्षा मारने और मरने की राय देते हैं।

गाँधी जी के सत्य, (Truth) ईश्वर (God) तथा अहिंसा (Non-Violence) के आदर्श नवीन नहीं हैं। गाँधी जी ने इन बुनियादी नियमों के आधार पर नव व्याख्या की। उन्होंने अपने प्रयोगों द्वारा शिक्षा दी है कि अहिंसा के आदर्श से ही सत्य तथा ईश्वर की प्राप्ति हो सकती है तथा अहिंसा का आदर्श मानव जाति के व्यवहार के लिए सुलभ है। १९४० ई० में 'गाँधी सेवा संघ' के वार्षिक

सम्मेलन में उन्होंने कहा था "अहिंसा सब के लिए, सब जगहों के लिए और हर समय के लिए है।" उन्होंने संशयवादी संसार को दिखाया कि सत्य और अहिंसा मनुष्य के हाथ में सर्वश्रेष्ठ अमोघ हथियार हैं। इस प्रकार उन्होंने इन आदर्शों को व्यापक एवं विशद बनाया।

अहिंसावादी हिन्दी साहित्य—हिन्दी साहित्य के संक्रान्ति-युग में गाँधी जी की विचार-धारा (अहिंसावाद) ने अधिकांश कवियों तथा लेखकों को प्रभावित किया। तत्कालीन साहित्य में गाँधीवादी साहित्य की मान्यताओं का वर्णन होने लगा। छायावादी कवियों के सामने गाँधी जी का संदेश एक नया दर्शन लेकर आया। छायावादी कवियों की पलायनवादी प्रवृत्तियों, असंतोष तथा प्रतिवाद आदि दुःख-पूर्ण वस्तुओं के सामने आशा की किरण आयी। एक प्रकार की अन्तः-प्रेरणा मिली और छायावादी कवि कहने लगे—

कवि, नवयुग की चुन भावराशि,
नव छंद, आभरण, रस विधान,
तुम बन न सकोगे जन मन के,
जाग्रत भावों के गीत यान ?

—पन्त

कवि 'बापू' के प्रति लिखता है—

'सदियों का दैन्य-तमिस्र तूल,
धुन तुमने कात प्रकाश—सूत,
हे नग्न! नग्न-पशुता ढँक दी
बुन नव संस्कृति मनुजत्व पूत।
जग पीड़ित छूतों से प्रभूत,
छू अमृत स्पर्श से, हे अछूत।

तुमने पावन कर, मुक्त किए
मृत संस्कृतियों के विकृत भूत।

अहिंसा नीति के बारे में—

हिंसा-नल से शान्त नहीं होता हिंसानल,
जो सबका है वही हमारा भी है मंगल।
मिला हमें चिर-सत्य आज नूतन होकर
हिंसा का है एक अहिंसा ही प्रत्युत्तर।
इसका भय क्या? रक्तपात हम नहीं करेंगे
झेलेंगे सब स्वयं अहिंसक मरण मरेंगे।

तथा—

तेरे बोधि-वचन अंकित हैं, जन-जन में अद्यापि,
अनल-अनल से वेद-वेद से बुझता नहीं कदापि।
—(नोआखाली; सियाराम शरण गुप्त)

गाँधीजी ने पशु-बल के विरोध में जो आत्म-बल की दीक्षा दी थी वह केवल पीड़ित देश को ही मुक्त कराने वाली नहीं थी वरन् विश्व को भी मुक्त करने के लिए थी। वह इतिहास का सचमुच नया पृष्ठ ही था—

नया पन्ना पलटे इतिहास,
हुआ है नूतन वीर्य-विकास
विश्व, तू ले सुख से निःश्वास,
तुझे हम देते हैं विश्वास।
(जय बोल : मैथिलीशरण गुप्त)

सत्याग्रह की सफलता के अवसर पर कवि कहता है—

किया आत्म-बल से पशु-बल का विग्रह अपने आप,
बिठा दी क्रूरों पर भी छाप;

प्रेम-सहित, आतंक रहित था उसका प्रबल प्रताप
पुण्य है पुण्य, पाप है पाप;
कभी, किसी का चला न चारा।
सत्याग्रह था उसे तुम्हारा।

'भारतीय आत्मा' पुष्प के प्रतीक में बोल उठती है और

मुझे तोड़ लेना वनमाली, उस पथ पर देना तुम फेंक;
मातृभूमि पर शीश चढ़ाने जिस पथ जावें वीर अनेक।

जब राजनीति के वातावरण में 'सत्याग्रह' का स्वर गूँजने लगा तो कवियों ने युवकों को उसका मर्म स्पष्ट किया—

नियम अन्यायमय तोड़ो यही कर्तव्य है सच्चा
महात्मा गाँधी का संग करो कटिबद्ध हो मित्रो!
जरा प्रह्लाद—ध्रुव की जीवनी से भी तो लो शिक्षा,
करो सब प्राप्त, स्वत्वों की विचारात्मा बनो सच्चे।

(सत्याग्रह-भगवन्नारयण भार्गव)

गाँधीवाद का प्रमुख आह्वान पन्त ने सुना और 'युगवाणी' में अपने स्वरों को बदल दिया—

'जो कठिन हलों की नोंको से
अविराम लिख रहे धरती पर!
जो उपजाते फ़ल, फूल, अन्न
जिन पर मानव जीवन निर्भर!'

तथा 'ग्राम्या' में ग्राम्य जीवन का विस्तृत वर्णन किया—

अन्धकार की गुहा सरीखी
उन आँखों से डरता है मन।
भरा दूर तक उनमें दारुण,
दैन्य दुःख का नीरव रोदन।
अह, अथाह नैराश्य, विवशता का,
उस में भीषण सूनापन।

मानव के पाशव पीड़न का
देतीं वे निर्मम विज्ञापन !

और गाँधीवाद की मानवता ने पन्त को मानव प्रेमी बना दिया और वह जीवन देवता का जय-गान करने लगा—

जग के उर्वर आँगन में,
बरसो ज्योतिर्मय जीवन। —गुँजन